* ॐ *

वेद-सन्देश

चतुर्थ भाग ।

(प्रभु-सन्देश)

द्वितीय उच्छ्वास

अर्थात्

वैदिकभक्तिके परम लक्ष्य, एक, अखण्ड-ज्योतिका सर्वथा नये प्रकारसे स्वरूप-निरूपण ।

लेखक—

श्री पं० विश्वबन्धु शास्त्री, एम. ए., एम. ओ. एल.

आचार्य,

श्री दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय, लाहौर ।

पं० भीमदेव शास्त्री, एम. ए., एम. ओ. एल, ने

वैदिकाश्रमाधिष्ठात्री सभा लाहौर की

आज्ञा से प्रकाशित किया ।

प्रथमावृत्ति २००० | सं० १९८७ वि० दयानन्दाब्द [illegible] | मूल्य

लेखककी अन्य पुस्तकें—

१—वेद-सन्देश प्रथम भाग	...	१॥)
२—वेद-सन्देश द्वितीय भाग	...	१)
३—वेद-सन्देश तृतीय भाग	...	१)
४—वेदयज्ञ प्रदीपिका	...	१।)
५—आर्योदय	...	१)

नोट—स्थायी ग्राहकोंको पौने मूल्यपर

पता—मैनेजर वैदिकाश्रम ग्रन्थमाला

दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय

लाहौर ।

मुद्रक—
श्रीयुत सत्येन्द्रनाथ जी
रावी फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग वर्क्स अनारकली
लाहौर में वैदिकाश्रमाधिष्ठात्री सभा
लाहौर के लिये छपा ।
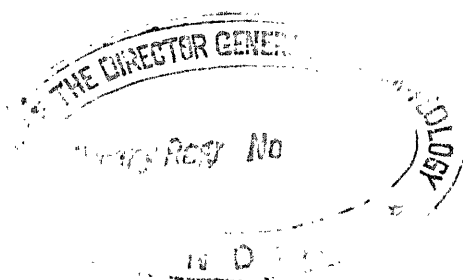
वेदोद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती

समर्पणम्
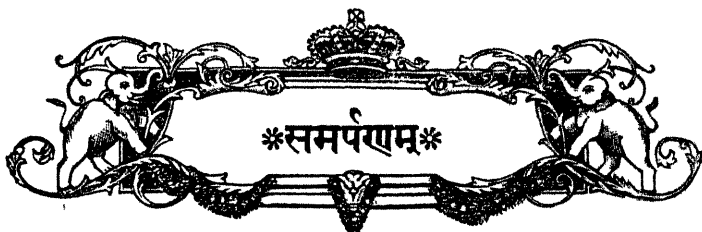
देशोद्धारपवित्रभावभरितो दीक्षां गतः सद्गुरोः
प्राणा येन सुकर्मयागततिना लक्ष्यस्य वेद्यां हुताः ।
यस्मिंस्तापससत्तमे विकसितो योगो दयानन्दयोः
स्तूयेत प्रचुरं कथं स न जयी विश्वेशसन्देशदः ॥१॥

जो महापुरुष उन्नीसवीं शताब्दीका सर्व-नायक आचार्य था, जो सर्व-प्राचीन शास्त्रोंके आधारपर सर्वथा नवीन युगका प्रवर्त्तक था, जिस सच्चे शिष्यने सद्गुरुसे दीक्षित होकर प्राणिमात्रके उपकारार्थ प्राण तक होम दिये, जिस सच्चे भक्तने अपने जीवनमें दया और आनन्दका विचित्र रसास्वादन करते हुए, सच्चे उपास्यदेवकी प्राप्तिका सन्देश सुनाया, उसी भगवान् दयानन्दस्वामीके भावोंका स्मारक होता हुआ, यह मेरा लघु उपहार स्वीकार हो ॥

विश्वबन्धुः

प्रस्तावना ।

१—वेद-सन्देश ग्रन्थ एक विशेष क्रमके अनुसार प्रस्तुत किया जारहा है। प्रथमाध्यायमें आध्यात्मिक स्वरूप तथा जगत्तत्त्वका समीक्षण करके, दूसरे अध्यायमें शारीरिक सम्पत्तिकी उपादेयता तथा सिद्धि-प्रकारका निरूपण किया गया था। तीसरा अध्याय मानसिक स्वरूपका प्रतिपादन करता हुआ, आन्तरिक शुद्धि और जीवन-विकासका मार्ग दिखाता है। चतुर्थ अध्यायसे वैदिक भक्तिका सूत्रपात होता है। व्यक्तिकी परमावस्था ब्रह्म-सायुज्य है। प्रथम उच्छ्वासमें भक्ति-रहित जीवनकी तुच्छताको दिखाकर प्रभु-जिज्ञासाको पैदा करके, इस दूसरे उच्छ्वास द्वारा वैदिक उपास्यदेवके स्वरूप को दिखानेका यत्न किया गया है। उसके पीछे गृह तथा राष्ट्रके सम्बन्धमें वेद-सन्देश सुनाकर यह क्रम पूर्ण हो जावेगा।

२—आर्य जनताने इस ग्रन्थमालाको जितना अपनाया है, मैं उसकेलिये सब सज्जनोंके प्रति आभारी हूं। पर धनाभावके कारण ग्रन्थमाला जितनी सेवा करना चाहती है, उतनी नहीं कर रही है। प्रभुकी कृपा हो, आर्योंका हृदय इधर प्रवृत्त हो। यही सच्ची ऋषि-पूजा होगी। इस संकेतके साथ मैं अपने प्रिय पाठक वृन्दके हाथोंमें इस ग्रन्थको उपस्थित करता हूं। इस ग्रन्थको ठीक करके छपवाने तथा इसी विषयमें अन्य सब प्रबन्ध करनेके लिये मैं ग्रन्थमालाके अध्यक्ष, पं० भीमदेवजी शास्त्री, एम० ए०, महाविद्यालयके मुख्य व्यवस्थापक, पं० देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर तथा उनके दूसरे कर्मचारियों और विद्यार्थियोंको धन्यवाद देता हूं। इस अमूल्य सहयोगके विना ग्रन्थमाला अपनी वर्त्तमान पदवीपर कभी न पहुँच सकती।

वैदिकाश्रम, लाहौर
श्रावणी, १९८७

विश्वबन्धु

विषयानुक्रमणिका ।
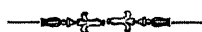
चतुर्थाध्याय

	पृष्ठ
द्वितीयोच्छ्वास, प्रभु-स्वरूप-निरूपण	८–१७२
१ म खण्ड—भगवदाराधन तथा ग्रन्थ संकेत, श्रुति व्यसन, सद्बुद्धि, तथा सद्भक्तिकी याचना	११–१३
२ य खण्ड—अमरनाथकी यात्रा, पर्वतोंका मनोहर दृश्य, यात्राका उद्देश्य, अन्धविश्वास ...	१४–२०
३ य खण्ड—एक उपास्यदेवकी पूजा, वैदिक भक्तिका स्वरूप, ज्ञानकी आवश्यकता, बहुदेवतावाद	२०–३८
४ थं खण्ड—वैदिक देवताओंका रहस्य, कविकी प्रतिभा, विभक्त तथा अविभक्त दृष्टि, अग्निका विस्तार	३९–४१
५ म खण्ड—दैवत रहस्यका निदर्शन, दृष्टिकोणका अभ्यास, अग्निसे त्रिलोकीमें व्याप्त ज्योतिका निश्चय, चार कोटियां ...	४९–७०
६ ष्ठ खण्ड—महाप्रभु सविताकी महिमा, भौतिक चित्रण, प्रेरणात्मक शक्ति, सूक्ष्मदर्शी, जगन्नियामक	७०–७८
७ म खण्ड—अविभक्त आधिदैविक सविता, मानसिक अन्धकार नाशक, भक्तकी सूक्ष्म दृष्टि, प्रियतमके दर्शन, सांसारिक अनासक्ति,	

गणित शास्त्रका बीज ... ७९-१०९

८ म खण्ड—एक अखण्ड परम ज्योति, जीवन नौका, नाना प्रकारके साधनोंका उपदेश, उपासनाका लक्ष्य, सृष्टि विद्या, मायाका स्वरूप, वैदिक कर्मकाण्ड ... ११०-१२८

९ म खण्ड—सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता, सत्य-स्वरूपता, विष्णुकी महिमा, ब्रह्मज्ञानका अधिकारी, पापका दुःखमय फल, इन्द्र-वृत्रके युद्धका रहस्य, 'इन्द्र' सर्व-कामनाओंका पूरक ... १२८-१५८

१० म खण्ड—प्रेम सम्बन्धकी अति भूमि, भक्ति-प्रेमकेलिये सर्वस्व अर्पण, प्रभुके साथ आत्मीय सम्बन्ध, चित्त-वेदिकापर श्रद्धा, विश्वास प्रदीप जगाये रहना, उपसंहार १५९-१७२

अकारादि क्रमसे विषय सूची।

पृष्ठ

अ

अखण्डके आंशिक रूप ... ८५
अग्निका लक्ष्यार्थ-शक्यार्थ ५६
अग्निका रहस्य ... ४३
अणु २ में रमता 'राम' ११७
अप्रतिहत शासन चक्र ३७
अमरनाथकी यात्रा ... १४
अवतार कल्पना ... १५५
अवर्णनीय विशालता ... ३३
अविभक्त आधिदैविक 'सविता' ७६

आ

आधिदैविक-आधिभौतिक ५७

इ

'इन्द्र' पराक्रमका संकेत १४३
इन्द्र-वृत्र युद्ध ... १४६

ई

ईश्वरका अद्वितीय स्वरूप ... ३१

उ

'उपांशु' आदि १२ ग्रह ... १२१
उसका चमकारा ... १३१

पृष्ठ

ऋ

ऋग्वेदकी प्राचीनता ... १२३

ए

एक अखण्ड परम ज्योति ११०
एक उपास्यदेवकी पूजा ... २०
एकका ही नानात्व ११६
एक सिर वाले दस बच्चे ८१

औ

औपचारिक तथा गौण अर्थ ५५

क

काश्मीर यात्रा ... १५, १७
कोटियोंकी शृङ्खला १६५

घ

घृतकी महिमा ... १६३

च

चार कोटियाँ ... ६७
चित्त-वेदिकापर पतंग १६६

ज

जादू टोनेका भ्रम ६३
ज्ञानका विस्तार ... १७१

	पृष्ठ
त	
तीन, तीस, तैंतीस देवता ···	१२५
तीर्थयात्राका उद्देश्य ···	१९
तृतीय धाम ···	१३५
द	
'दास'का भाव ···	१५१
देवताओंकी एकता ···	६६
देवता-वाद ···	४१
दैवत रहस्यका निदर्शन ···	४६
दोसे दस तक गणना ···	८६
द्युलोककी उत्पत्ति ···	९७
न	
नवकोश ···	८३
निर्बलोंका बल ···	१५३
प	
पाखण्ड-काण्ड ···	६३
पूर्वा-भूमि ···	११५
प्रकाशका परमाधार ···	१०६
प्रभुकी दया वृष्टि ···	२५
प्रभुकी प्रेरणा ···	१४५
प्रभु विश्वास ···	१६७
प्रार्थना ··· ···	१३

	पृष्ठ
प्रेम सम्बन्धकी अतिभूमि	१५६
ब	
ब्रह्माण्डकी विभाग कल्पना	७७
भ	
भक्ति-मार्ग ···	२१
भक्तकी भक्तिका स्वीकार	१५७
भगवदाराधन तथा ग्रन्थारम्भ निर्देश	११
भगवद्भक्तिका मीठा फल	६१
भगवान्‌की अनन्त महिमा	१०३
भगवान्‌की मंगल कामना	१३७
भौतिक साधन ···	६५
म	
महाप्रभु सविताकी महिमा ···	७१
मानव जीवनका उपहास ···	२६
मानव हृदयकी तृप्ति ···	१६१
मूर्तिपूजाका प्रादुर्भाव ···	६१
'मैं-तू' ··· ···	४७
य	
यज्ञकी उत्पत्ति ···	६६
यात्राका उद्देश्य ···	१६
ल	

पृष्ठ

लौकिक-पारलौकिक फल ... ८७

व

वरुणका साम्राज्य ... १३६

विजयका रहस्य ... २७

विभूति-केन्द्र ... १०५

विश्वपटकी बुनत ... ७३

विष्णुपदकी महिमा ... १२६

वृत्र नाशक सरस्वती ... ५३

वैदिक आध्यात्म गंगा ... १२७

वैदिक देवताओंका रहस्य ... ३९

वैदिक पूजा विधि ... १११

श

शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ ... ५१

शीतलता तथा उष्णता ... १०७

पृष्ठ

स

सब कुच्छ सबसे न्यारा ... १३३

समाहित अवस्था ... ४५

सर्व शक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता

सत्यस्वरूपता ... १२८

सविता सूक्ष्म दर्शी ... ७५

साम्यवाद ... १०१

सिद्धपुरुष निर्माता सम्प्रदाय ११३

सूर्य और पृथिवीका विवाह ... १४७

सूर्यादिका चक्र ... ६५

सृष्टिका एक मूल तत्त्व ... ३५

सोमरसकी आहुति ... २३

ह

'हम सब' शतरञ्जकी गोटें ... ११३

मन्त्रोंकी अकारादि क्रमसे प्रतीक सूची।

	पृष्ठ
अ	
अग्निः परेषु धामसु ...	१४१
अग्निं मन्ये पितर ...	१६४
अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य ...	६५
अन्नाद्येन यशसा ...	१०५, १०९
अम्भो अमो मह ...	१०६
अम्भो अरुणं रजतं ...	१०७
अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य ...	१६३
इ	
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि ...	६६
इन्द्रादिन्द्रः सोमात् ...	११६
उ	
उत थासि सवितस्त्रीणि ...	७६
उत यो द्यामति सर्पात् ...	१३९
उतेयं भूमिर्वरुणस्य ...	१३९
उदुष्टुतः समिधा ...	५८
उपो ते बद्धे बद्धानि ...	१०३
उरुः पृथुः सुभूर्भुवः ...	१०७
ए	
एकः सुपर्णः स ...	११८
एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध	१२४
एकराडस्य भुवनस्य ...	२६
एते अस्मिन् देवा ...	८५
एषो ह देवः प्रदिशो ...	१३१
क	
कीर्त्तिश्च यशश्चाम्भश्च ...	८७
कुत इन्द्रः कुतः सोमः ...	११६
को अस्य शुष्मं तविषीं ...	३६
च	
चतुष्कपर्दा युवतिः ...	११८
त	
तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येक ...	८१
तदेजति तन्नैजति ...	१३६
तदेवाग्नि स्तदादित्य ...	१२६
तद्विष्णोः परमं पदं ...	१२९
तमिदं निगतं सह ...	८४, ९०
तस्यामू सर्वा नक्षत्रा ...	९४
तस्येमे नवकोशा ...	८३
तस्येमे सर्वे यातव ...	९३
तस्यैष मारुतो गणः ...	८२
तावांस्ते मघवन् ...	१०२
त्वं हि नः पिता वसो ...	१६८
त्वमग्न इन्द्रो वृषभः ...	५०

	पृष्ठ
त्वमग्ने अदितिर्देव ...	५३
त्वमग्ने द्रविणोदा ...	५२
त्वमग्ने राजा वरुणो ...	५१
त्वमग्ने रुद्रो असुरो ...	५२
त्वमङ्ग प्र शंसिषः ...	२४
द	
द्यावा चिदस्मै पृथिवी ...	१५६
न	
न तस्य प्रतिमा ...	१२६
न द्वितीयो न तृतीय ...	८६
न पञ्चमो न षष्ठ ...	८६
नमस्ते अस्तु पश्यत ...	१०५,१०८
नाष्टमो न नवमो ...	८६
प	
पश्चात् प्राञ्च आ ...	८१
पापाय वा भद्राय वा ...	१०१
पुरुहूतो यो पुरुगूर्त्तः ...	२६
प्रतद्वोचेदमृतं नु ...	१३४
प्रथो वरो व्यचो लोक ...	१०८
ब	
बृहन्नेषामधिष्ठाता ...	१३८
ब्रह्म च तपश्च कीर्त्तिश्च ...	६१
भ	
भवद्वसु रिदद्वसु ...	१०८
भुवश्चक्षु मंह ऋतस्य गोपा ...	६३
भूतं च भव्यं च श्रद्धा ...	६१
भूय इद्वावृधे वीर्याय ...	३२
भूयानराल्याः शच्याः ...	१०४
भूयानिन्द्रो नमुराद् ...	१०४
म	
मतयः सोमपांमुरु ...	१६८
मा चिदन्य विशंसत ...	२१
मित्रो अग्निर्भवति ...	५७
य	
यं क्रन्दसी संयती ...	१५३
यं स्मा पृच्छन्ति कुह ...	१५२
यः पृथिवीं व्यथमाना ...	१५४
यः शम्बरं पर्वतेषु ...	१५५
यः शश्वतो मह्येनो ...	१५४
यः सप्त रश्मिर्वृषभ ...	१५६
यः सुन्वन्तमवति ...	१५७
यः सुन्वते यः पचते ...	१५८

	पृष्ठ
य एतं देवमेकवृतं ...	८७,९१
यद्वा कृणोष्योषधी ...	१०२
यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः ...	१२३
यस्तिष्ठति चरति ...	१३८
यस्मान्न ऋते विजयन्ते ...	१५४
यस्माज्जातं न पुरा ...	१३२
यस्य प्रयाण मन्वन्य ...	७५
यस्याश्वासः प्रदिशि ...	१५३
युञ्जते मन उत युञ्जते ...	७३
येत आसीद् भूमिः ...	११५
येनेमा विश्वा च्यवना ...	१५१
यो जात एव प्रथमो ...	१४२
यो भोजनं च दयसे ...	३१
यो रध्रस्य चोदिता ...	१५२
यो हत्वाहिमरिणात् ...	१४६
र	
रश्मिभिर्नभ आभृतं ...	७९,८३
रायस्कामो वज्रहस्तं ...	१६७
व	
विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते ...	७४
विष्णोः कर्माणि पश्यत ...	१२८

	पृष्ठ
वेन स्तत्पश्यन्निहितं ...	१३३
श	
शिक्षेयमिन्महयते ...	१६७
स	
स एति सविता ...	७९
स एव मृत्युः सोऽमृतं ...	९१
सतः सतः प्रतिमानं ...	१६६
सत्यमित्तन्न त्वावाँ ...	३३
स धाता स विधर्ता ...	८०
स नः पितेव सूनये ...	१६२
स नो बन्धुर्जनिता ...	१३५
स पर्यगाच्छुक्रमकाय ...	१३७
स प्रजाभ्यो वि पश्यति ...	८४
स रायस्खामुप सृजा ...	३८
स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये ...	९२
सर्वं तद् राजा वरुणो ...	१४०
सर्वे अस्मिन् देवा ...	९०
सर्वे निमेषा जज्ञिरे ...	१३०
स वा अग्नेरजायत ...	९८
स वा अद्भ्योऽजायत ...	९८
स वा अन्तरिक्षादजायत ...	९७

	पृष्ठ
स वा अह्नोऽजायत ...	९५
स वा ऋग्भ्योऽजायत ...	९८
स वै दिग्भ्योऽजायत ...	९७
स वै दिवोऽजायत ...	९७
स वैं भूमेरजायत ...	९८
स वै यज्ञादजायत ...	९९
स वै रात्र्या अजायत ...	९६
स वै वायोरजायत ...	९७
स सर्वस्मै वि पश्यति ...	९०
स स्तनयति स ...	१००
सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था ...	११९
स हि विश्वानि ...	३७
सुपर्णं विप्राः कवयो ...	११९
सो अग्निः स उ सूर्यः ...	८०
सोर्यमा स वरुण ...	८०

ग्रन्थेऽत्र वेदसन्देशेऽध्याये वेदसम्मिते ।
उच्छ्वासोऽथ द्वितीयोऽयं परमेशनिरूपणः ॥

चतुर्थाध्याय

द्वितीय उच्छ्वास

प्रभु-स्वरूप-निरूपण ।

* ओ३म् *

प्रथम खण्ड।

भगवदाराधन तथा ग्रन्थारम्भ संकेत।
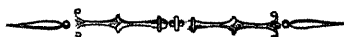
ओ३मित्येकाक्षरं ब्रह्म परं गुह्यं सनातनम्।
वेदराशिप्रदं सत्यं प्रणतोऽहमहर्निशम् ॥१॥
ध्यायं ध्यायमहं देवं सर्वलोकसमाश्रयम्।
वेदसन्देश लब्धाख्यं ग्रथ्नामि ग्रन्थमुज्ज्वलम् ॥२॥

अर्थ—हे भगवन्, आप अविनाशी, परम सूक्ष्म, सनातन तत्त्व हो। आप वेद-विज्ञानको प्रदान करने वाले हो। प्रभो, दिन रात आपके मंगलमय चरणारविन्दमें मेरा नमस्कार हो ॥ १ ॥ सर्व लोकोंके आधार, विभो! आपका ध्यान करते हुए **वेदसन्देश** नाम करके प्रसिद्ध, आपके ज्ञानसे उज्ज्वल, ग्रन्थके विधानमें पुनः प्रवृत्त होता हूं। मेरा यह प्रयत्न सफल हो ॥२॥

वृत्तं यत् त्रिषु वर्णनं सकुतुकं कायात्मचेतोऽनुगम्
आत्तस्तत् कृपया तवैव भगवन् भागश्चतुर्थोऽप्ययम्।
एतत्पाठविधूतसंशयमलाः सर्वे सुगुप्ताः किल
पूज्येशे त्वयि बद्धपेशलधियस्तत्त्वे रताः स्युः सदा॥३॥

अर्थ—क्योंकि इससे पूर्व तीन भागोंमें देह, आत्मा, चित्त

तथा-प्रभु विषयक कुतूहलका वर्णन होचुका है, अतः हे भगवन्, आपकी ही कृपासे यह चतुर्थभाग आरंभ करता हूं । इसके पाठसे आपके स्वरूपके विषयमें सब संशयोंसे मुक्त होकर, आपमें अपने चित्तके प्रवाहको लीन करते हुए सब सज्जन सुरक्षित और तत्त्वमें युक्त हों ॥३॥

अस्तीति प्रवदन्ति केवलगिरा लोके मनुष्याः प्रभुं
यत्सत्यं न विदुः प्रतीतिविषयं याथार्थ्यसन्धानतः ।
तस्माद्‌ वादविवादकौशलततिः संहारदक्षा किल
ज्ञाज्ञानां सममेव दुःखकरणी कोलाहले कारणम् ॥४॥

अर्थ—लोकमें मनुष्य प्रभुकी सत्ताको केवल मुख द्वारा कहते ही हैं । वस्तुतः उसके स्वरूपकी यथार्थताका उन्हें कोई परिचय नहीं होता । इसी कारणसे घोर अनर्थकारी, बुद्धिमानों और मूर्खों को समान प्रकारसे दुःख देने वाला, व्यर्थ वाद विवादका तांता लगा रहता है । इसका फल केवल कोलाहल मचा हुआ है ॥४॥

वेदे केचिदाहुरर्थविलयं मायाविनि ब्रह्मणि
नानादेवविधानवादविधुरा अन्ये भ्रमेयुर्भृशम् ।
सत्यासत्यविनिर्णयस्तु कठिनो वादाश्च वादाः किल
वेदाभ्यासततौ रतैव धिषणा वेदान्तसिद्धान्तगा ॥५॥

अर्थः—कुछ लोग तो वेदद्वारा मायावी ब्रह्ममें सकल पदार्थों के विलयको प्रतिपादित कहते हैं । दूसरोंको नाना देववादने

व्याकुल तथा भ्रान्त कर रखा है। सत्य, असत्यका निर्णय कठिन है। वाद केवल वाद हैं। वेदाभ्यासके विस्तारमें निरत बुद्धि ही वास्तविक वेदान्त सिद्धान्तको जान सकती है ॥५॥

विश्वेशो वितनोतु निर्मलधियां भूनायकानां रुचिं
सद्धर्मे विनये स्वकीर्त्तिविततौ विद्याप्रचारे शुभे ।
न्याय्याचारविचारसाररुचिरा नीतिः सदा वर्धतां
त्यक्त्वान्यव्यसनं श्रुतिव्यसनिनो विज्ञा भवेयुर्जनाः ॥६॥

अर्थ—विश्वेशकी ऐसी कृपा हो कि निर्मल बुद्धिवाले भू-नायक पैदा हों, जिनकी रुचि सद्धर्म, विनय, स्वकीर्त्तिके विस्तार तथा शुभ विद्या-प्रचारमें विकसित होती रहे । न्याययुक्त आचार, विचार तथा सारभूत भावों के कारण मनोहर नीतिकी वृद्धि हो। सब लोग विद्वान् हों और उनमें शेष सब व्यसन दूर होकर श्रुति-भगवतीकी आराधनाका व्यसन बना रहे ॥६॥

द्वितीय खण्ड

अमरनाथकी यात्रा

*माया०—भगवन्, इस वार तो आपने बड़ी कठिन यात्रा की है। समाचार-पत्रों द्वारा वर्षाके बहुत अधिक होनेकी वार्त्ता पढ़ कर चित्तमें नाना प्रकारके संशय उठते रहते थे। मैं भी उधर जा चुका हूँ। इसलिये इस अवस्थामें होने वाले कष्टोंको भली भांति अनुभव कर सकता हूं। जगदीश्वरका कोटिशः धन्यवाद है कि आप तथा मेरा भाई सत्यकाम चंगे भले वहांसे वापिस पहुँचे हैं। मैं क्या, सारा नगरही आपके दर्शनोंके लिये लालायित रहता था। लोग बार २ समाचार पूछा करते थे।

सत्य०—आप किस वर्ष उधर गये थे। क्या उस वारभी इसी प्रकार वृष्टिसे कष्ट हुआ था ?

माया०—कई वर्षोंकी बात है। मेरे स्वर्गीय पिताजी अभी जीवित थे। हमारा सारा परिवार तथा मुहल्लेके कुछ अन्य स्त्री-पुरुष भी गये थे। मैंने उसी वर्ष मिडलकी परीक्षा दी थी।

---

* नोट—पूर्ण नाम पहिले भागमें दिये जा चुके हैं। वस्तु० से वस्तुस्वरूप, लोक० से लोकेश, माया० से मायाराम, महा० से महात्मा, सत्य० से सत्यकाम, शून्य० से शून्यानन्द, उप० से उपराम तथा अन्त० से अन्तरानन्द जानना चाहिये।

वस्तु०—वाह ! तब तो बड़े दिनोंकी बात है ।

माया०—हांजी, लगभग तीस वर्ष होगये होंगे ।

लोक०—तो क्या आपको अपनी यात्राके कुछ संस्कार स्मरण भो रहे हैं या सब साफ़ हो चुके ?

माया०—नहीं, मुझे तो सब कुछ ऐसे स्मरण है जैसे कल की ही बात हो । मेरी वही प्रथम पर्वत-यात्रा थी । वस्तुतः उससे पूर्व मुझे कभी घर से बाहिर निकलना ही न मिलाथा । सारे मार्गके स्थान रमणीक और दृश्य मनोहर थे । पर्वतकी तलेटीमें से उसके गिर्द सड़क ऐसे घेरा डाले हुईथी, जैसे, मानो, उसने यज्ञोप-वीत धारण कररखा हो । नीचे, गहराईमें चन्द्रभागा नदी बड़े वेगके साथ २ भागती, फांदती हुई साथ २ जाती थी । कभी वह पर्वतकी दूसरी घाटीकी ओटमें हो जाती थी और कभी, फिर हमारे सम्मुख ही आकर गड़ २ करती हुई नाचने लगती थी ।

महा०—बहुत ठीक ! तो आप जम्मूके रास्ते ही बानिहाल होकर वैरीनाग पहुँचे होंगे ?

माया०—जी हां ! आहा ! वैरीनाग का गोल और अथाह सर ! कितना ठण्डा पानी है ! एक पलमें शरीर सुन्न होने लगा था । तो क्या आप भी उसी मार्गसे गये थे ?

महा०—नहीं, इस वार तो हम बटोतके पड़ावसे पूर्वोत्तरको किश्तवारमें प्रविष्ट होकर अच्छबलके सुन्दर स्थानसे काश्मीरमें पहुँचे थे । हां, उस तरह वह मार्ग भी मेरा देखा हुआ है ।

माया०—हां, महाराज, आप तो कई वार उधर गये होंगे । क्या किश्तवारके रास्ते भी पीरपञ्जाल का ऊंचा पर्वत लांघना पड़ता है ।

महा०—हां, उधर भी वही पर्वत सिंथन नामके स्थानसे पार करते हैं। बानिहाल-पथसे एक हज़ारसे कुछ अधिक फुट अर्थात् साढ़े बारह हज़ार फुटकी ऊंचाई है। मार्ग अधिक कठिन और विकट है। पहिला आधा भाग तो अति सूखा और गरम भी है पर किश्तबार शहरसे आगेका भाग ठण्डा और सुन्दर है।

सत्य०—छात्रूसे आगेकी दो दिनकी बाट क्या है, एक सुविशाल, सुन्दर उद्यानकी सैर है।

महा०—पर एक बात है, मार्गमें स्थिर आबादी नहीं है। कोई पड़ाव आदि भी नहीं, जहां ठहरनेका अपने तौर पर प्रबन्ध हो-सके या जहांसे कुछ खाने पीनेकी सामग्री मिलसके। और यही स्वाभाविकभी है। आने जाने वाले लोग उधरके ही होते हैं। सेर, दो सेर आटा साथ बांध कर चल पड़ते हैं। जहां सांझ हुई, वहीं कुछ साधारण आश्रय देख कर पड़ रहते हैं और आग जला कर, पत्थरपर ही दो रोटियां सेंक लेते हैं।

लोक०—है तो खूब आनन्द की बात।

सत्य०—जब प्रतिदिन और सारी आयु भर ही यह न करना पड़ता हो। उन बेचारोंको तो घरपर बैठनेसे पेट भरनेको रोटी भी नहीं मिलती। जब तक बरफसे मार्ग बन्द नहीं होता, वे वहीं मजदूरी करके और इसी प्रकार दिन काटते हुए गुजारा करते हैं।

वस्तु०—क्या उधर गरीबी बहुत अधिक है?

सत्य०—क्या ठिकाना है! सारे काश्मीर प्रान्तमें प्रजा बहुत भूखी है। अविद्या, निर्धनता और नाना प्रकारकी सामाजिक बुराइयोंने उसे घेर रखा है। जितना अधिक वह सुन्दर तथा

उज्ज्वल देश है, उतना ही अधिक वहांकी प्रजाका घोर समाचार है।

महा०—तुम अभी और पर्वत-प्रदेशोंमें कम गये हो। सब ओर यही हाल है। हां, काश्मीरमें ऐसा पूर्व युगमें न था। वहां पर्वतोंके बीचमें और उनके ऊपर इतने विस्तृत मैदान हैं कि उनकी उपमा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। वह प्राचीन ऋषि-प्रिय प्रान्त है। वह संस्कृत विद्याका केन्द्र रह चुका है। वहां प्रकृतिने दिल खोल कर सब प्रकारकी सामग्रीकी अनुकूलता दे रखी है। वहां वस्तुतः निर्धनता और दुःख होना न चाहिये था। इस अनिष्टका मूलकारण कई सौ वर्षोंसे राजकीय परिवर्त्तन और दुर्व्यवस्था ही को समझना चाहिये। स्थिर, बुद्धि पूर्वक, सहानुभूतिसे पूर्ण नीतिसे यह देश फिर सुखी हो सकता है।

माया०—मटनके तीर्थपर सारी यात्रा इकट्ठी हुई होगी! वहांपर भी बड़ा सुन्दर सर है। वहांके पुरोहित बड़े लड़ाके हैं। यात्रीको लिपट जाते हैं। उसे अपना यजमान बनानेके लिये, आपसमें लड़ पड़ते हैं। यवन और ईसाई तकको मन्दिर दिखाते फिरते हैं। विचित्र लीला है। साधुओं तकके यजमानोंमें नाम लिख रखे हैं।

सत्य०—सच मुच वे बहुत तंग करते हैं। किसी समयमें वे सुखसे रहते होंगे, अब तो उनका बांका हाल है। इधर लोगोंकी इन तीर्थों और पिण्ड-तर्पणादि लीलाओंसे आस्था भी हट चुकी है। मोटरोंके चलनेसे तो इन बेचारोंकी रही सही वृत्ति भी नष्ट हो गयी है। अब वहां ठहरनेकी विशेष आवश्यकता ही नहीं

पड़ती। श्रीनगरसे सीधे पहलगामको ही लदे लदाये हुए लोग चले जाते हैं। वहीं से अब यात्राका संघटन होता है।

महा०—मटन और पहलगामके बीचका टुकड़ा कितना सुन्दर है पर अब तो उसे देखना ही नहीं मिलता। मोटर आदिके अधिक प्रचारसे इन पर्वत-प्रदेशोंकी एकान्त-रमणीकताका ह्रास होता चला जारहा है। अब तो पहलगाममें इसी आने जानेकी आसानीके कारण चार महीने अच्छी, खासी बसती बन जाती है। यात्राके समयकी तो बात ही दूसरी है।

माया०—तो अब यात्रा बहुत बड़ी होती होगी। पहलगामसे आगे तो बस तीन ही पड़ाव पैदल चलनेको रह जाते हैं। चन्दन-वाड़ी, शेषनाग और पंचतरणीकी बढ़ती हुई ऊंचाईके भिन्न २ प्रकारके दृश्य बहुत ही मनोहर थे।

सत्य०—इस वार तो यात्रियोंकी संख्या लगभग सात हजार बतायी जाती थी। प्रबन्धका भी क्या ठिकाना था! सरकारी सहायतासे सबको आराम मिल रहा था पर दैवी आपत्तिके सामने किसीकी पेश न जाती थी। चन्दनवाड़ीसे लेकर अन्त तक तीनों दिन वह वर्षा हुई, कि चुप ही भली। अधिक संख्या स्त्रियों और साधुओं की थी। उनके पास वस्त्र और अन्य सामान दूसरोंकी अपेक्षा बहुत कम था। कितनोंको तो धकेल २ कर पीछे लौटाया पर वे तो आगे जाने पर ही डटे हुए थे। सैकड़ों बीमार पड़ गये, पर फिर भी पीछे हटनेका नाम न लेते थे। जब पंच-तरणीपर सारी रात बरफ़ पड़ती रही, तो दूसरे दिन प्रातः तक लगभग दो सौ प्राणियोंके प्राण पंखेरू उड़ चुके थे। बड़ा भयानक दृश्य था। हृदय कांपता था, पर कुछ बन न सकता था।

वस्तु०—उसी वृष्टिके कारण तो जेहलम और चनाबमें इतनी

बाढ़ आयी, कि हज़ारों प्राणियोंका यहां नाश हुआ। गांवोंके गांव उजाड़ हो गये। उसके पीछे अब तक दीन, दुःखी लोगोंके रहे सहे प्राण ज्वर और तापने निचोड़ खाये।

लोक०—मेरी समझमें नहीं आता कि इतने लोग विना वस्त्रादिके सुप्रबन्धके इतने दुर्गम, विकट मार्गोंपर किस जोशमें चल पड़ते हैं। मूर्खताका भी क्या ठिकाना है!

सत्य०—इनका विश्वास इन्हें घसीट कर लेजाता है। अमरनाथ स्वामी, जो सारे जगत्का ईश्वर है, उसके दर्शन करनेसे मुक्ति होजाती है। वह वर्षभरके पीछे, उसी हिमालयकी कन्दरामें बरफ़के तोदेके रूपमें दर्शन देता है। उसीके लिये लालायित होकर लोग घरोंसे यों ही चल पड़ते हैं। जो इस यत्नमें मर जाते हैं, वे भी, समझो, अमर होजाते हैं।

महा०—प्यारो, यह तो एक ही यात्राका संकेत है। भारतवर्षमें ऐसी ही कितनी ही यात्राएं हैं। दूसरे देशों वाले भी अपने २ विश्वासके अनुसार दूर २ स्थानोंपर ईश्वरके दर्शन करनेको जाते हैं। जहां तक भ्रमण और अनुभव-प्राप्तिका विषय है, जिसे रुचि हो और जिसके पास साधन हो, उसे अवश्य देशाटन करना चाहिये। पर जहां तक भक्तिका संबन्ध है, ईश्वर और मोक्षकी प्राप्तिका विषय है, यह लोगोंका मिथ्या विश्वास है। इससे लोकमें घोर पाप और दुराचारका प्रचार हुआ है। असली धार्मिक जीवनमें आदर पैदा नहीं होता। सारी आयुके सब पाप एकही यात्रासे कट जाते हैं। ऐसा विश्वास होनेसे लोग निर्भय और निर्लज्ज होकर कुकर्म करते हैं। वेद भगवान्में जो ईश्वरका

सुन्दर, पूर्ण, शुद्ध स्वरूप वर्णन किया गया है, उसको भलीभान्ति समझनेमें ही हमारा कल्याण है। जब तक हम प्रभुके स्वरूपको नहीं समझते, तब तक भक्तिका ठीक मार्ग चल नहीं सकता। भक्तकी भावना उसके प्राणोंके समान है। ज्ञान-प्रदीपको जगाये विना अंधेरेमें केवल भावनासे कुछ हाथ नहीं पड़ता। उलटे मिथ्या, कपोलकल्पित बातों और दृष्टान्तोंका प्रचार होकर मानव-बुद्धि पाखण्ड-जालमें फंस जाती है। अतः सच्चे भक्ति-पन्थके लिये यह आवश्यक है कि वेदादि सत्यशास्त्रों तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके आधारपर ज्ञानके प्रकाशमें मनुष्य अपने उपास्य देवके स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करे। ऐसा करनेसे इधर उधर न भटक कर, शीघ्र ही सिद्धिकी प्राप्ति होसकेगी। सज्जनो, कलसे पुनः वेदामृतका पान करेंगे। मैं यत्न करूंगा कि आपको प्रभु-स्वरूपको समझाने वाले, सुन्दर, मधुर मन्त्रोंको सुनाऊं।

वस्तु०—महाराज, आपकी बड़ी दया होगी। हम बड़ी रुचिसे श्रुति भगवतीका प्रसाद ग्रहण करेंगे।

—:०:—

तृतीय खण्ड

एक उपास्यदेवकी पूजा
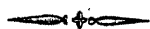
महा०—प्यारो, मनुष्यको धर्मसे स्वाभाविक प्रेम है। वह यह भी समझता है कि इस धर्म-सिन्धुका मानससरोवर सच्चे, प्रियतम परमेश्वरकी आराधना ही है। उसी मूल स्रोतकी ओर

वह अनादि कालसे प्रवृत्त होता हुआ चला आया है पर यह उसकी प्रवृत्ति अनेक वार साधारण भटक ही रहजाती है। उसके हाथ कदाचित् ही कुछ पड़ता है।

वस्तु०—भगवन्, यह क्यों? लाखों मनुष्योंको भक्ति-मार्गपर बढ़ते हुए पाते हैं। क्या उन सबका परिश्रम व्यर्थ ही चला जाता है?

महा०—नहीं, बेटा, बिल्कुल व्यर्थ क्यों कहा जावे? भाव यह है कि जितना भक्तिका आडम्बर देखनेमें आता है, उतना उसका असली स्वरूप नहीं मिलता।

सत्य०—महाराज! वह क्या है?

महा०—प्यारे, सुनो इसका उत्तर वेद भगवान्के शब्दोंमें सुनाता हूं।

(१) मा चिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१॥

ऋ० ८।१।१

अर्थ—हे (सखायः) मित्रो! (अन्यत्) किसी दूसरे [पदार्थ] की (मा) मत (वि-शंसत) विशेष स्तुति करो [ताकि] (मा) मत (रिषण्यत) दुःखी होओ। [रस के] (सुते) चू निकलने पर (सचा) एक साथ (इत्) केवल (वृषणं) समर्थ [कामना-पूरक] (इन्द्रं) इन्द्रकी (स्तोत) स्तुति किया करो (च) और (मुहुः) वार २ (उक्था) गीत (शंसत) गाया करो ॥१॥

माया०—भगवन्, इसका मुख्य इशारा क्या है?

महा०—प्यारो, हमें चाहिये कि हम पूरी श्रद्धासे युक्त होकर, सदा उस एक सर्व-समर्थ, सर्व-श्रेष्ठकी और केवल, उसी एक सच्चिदानन्दस्वरूपकी भक्ति किया करें, ताकि हमारे सब दुःख और सन्ताप शान्त हों। उसे छोड़कर, किसी अन्यको उसके स्थानपर आरोपित करना अपने लिये दुःखद्वारका खोलना समझो।

सत्य०—महाराज, लोग भी तो उसीकी पूजा करते हैं और फिर यह अकथनीय दुःख भी पाते हैं? यह क्या बात है?

महा०—बेटा, अपने मनकी गतिपर विचार करनेसे जगत्की स्थितिका यथार्थ बोध होसकता है। वेदने कहा है कि हम अन्य सब पदार्थोंकी विशेष स्तुतिको छोड़ कर, सुख-सम्प्राप्तिके लिये केवल उसी एक प्रभुकी शरण पकड़ें। पर क्या हम ऐसा करते हैं? वेद शेष पदार्थोंके साधारण उपयोग और गुण-गानके विरुद्ध नहीं। संसारके अशेष भोग्य पदार्थ हमारे सेवनके लिये हैं। अपनी २ आवश्यकताके अनुसार, प्रत्येक मनुष्य उनके विषयमें निःसन्देह ज्ञान प्राप्त करे और दूसरोंको उनका उपदेश भी करे। सभी लोग उनके उपभोगसे लाभ भी भले ही उठावें पर वह 'विशेष स्तुति' तब बनती है, जब हम अपने आपको उनके आस्वादनकी वेदीपर बलिदान करनेपर उतारू होजाते हैं। अपने सुख और मोक्षका उन्हेंही आधार मान लेते हैं।

वस्तु०—पर साथ ही सन्ध्या-वन्दन भी तो करते रहते हैं।

महा०—नहीं, प्यारे, उससे हमारी वृत्तिके स्वरूपमें कोई भेद नहीं पड़ता। वेदका यह निर्देश भगवद् भक्तोंको चेतावनी सी देता हुआ प्रतीत होरहा है। जड़ पदार्थोंका तो कहना ही क्या, कोई

चेतन मनुष्यादि भी वास्तवमें हमारी वह सहायता नहीं कर सकते, जो भगवान् धरा-प्रवेशी, धीमे मेंहके समान भांति २ के प्रसादोंके रूपमें निरन्तर बरसाते रहते हैं इसलिये अपनी वृत्तिको इधर उधर से हटाकर, सच्ची अनन्यभक्तिसे भरपूर होकर मन द्वारा सदा प्रभु आश्रित रहना चाहिये । सब काम करो, पर भगवान्का सहारा कभी मत छोड़ो । उसीके सामर्थ्यसे मेरी, तुम्हारी और सबकी भद्र कामनाएं पूरी होती रही हैं और आगे भी होंगी । जहां संसारका प्रत्येक संसर्ग थोड़ा सा सुख और अधिक दुःख देनेकी ओर झुका रहता है, वहां ईश्वरीय आराधना सब क्लेशोंको काट कर, अमिश्रित आनन्दके पथपर डालने वाली है ।

लोक०—महाराज, रसके चूनेसे क्या समझना चाहिये ?

महा०—प्यारे, प्राचीन पूर्वज सोम-याजी हुआ करते थे । उनकी भक्तिकी तीव्रताका क्षण तब होता था, जब वे सोम-रसको निकाल कर आहुति-त्यागके लिये तय्यार होजाते थे । आज इस युगका रंग ढंग बदल चुका है । भाषा, भेष, भोजन बदल चुके हैं । भक्तिका बाह्य स्वरूप बदल चुका है । पर, स्मरण रखो, भक्तकी भावना युग, युगान्तर और लोक लोकान्तरमें भी अपरिवर्त्तित ही रहती है । उसका मान उसकी तीव्रतामें है । वह चाहे सोमरसके द्वारा व्यक्त हो, चाहे मन्त्रपाठके द्वारा प्रकट हो और चाहे, मानसिक धारणाके द्वारा गुप्त प्रकाशको प्राप्त हो, सब अवस्थाओंमें आत्म-विकासके द्वारोद्घाटनका वह अनुपम साधन है । इसलिये आजकी परिवर्त्तित परिस्थितिमें अनेक प्राचीन शब्दोंके तात्पर्यार्थको लेकर ही हमारे लिये कुछ मार्ग खुल सकता है ।

(२) त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥२॥

ऋ० १।८४।१९॥

हे (अङ्ग) प्रिय (इन्द्र) परमेश्वर (शविष्ठ) उत्तम बलवाले ! (त्वं) तू (देवः) उज्ज्वलगुणों वाला (मर्त्यम्) मनुष्यको (प्र-शंसिषः) उत्तम स्तुतिके योग्य बनाता है । (त्वत्) तुझसे (अन्यः) दूसरा (मघवन्) हे ऐश्वर्यके स्वामिन् ! (मर्डिता) कल्याण कर सकने वाला (न-अस्ति) नहीं है; (ते) तूझे [ही] (वचः) वचन [स्तोत्र आदि] (ब्रवीमि) कहता हूं ॥ २ ॥

प्यारो, ईश्वरकी दयासे मनुष्य उस सारी सामग्रीको प्राप्त करता है, जिसके ठीक २ उपयोग द्वारा वह उत्तम यश और प्रशंसाका पात्र बन सकता है । परमेश्वर ऐसा बननेके लिये सब मनुष्योंको प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देता रहता है ।

सत्य०—तो, महाराज, भगवान्का यह आशीर्वाद सब जगह सफल क्यों नहीं होता ? हम मानव-संसारपर दृष्टि डालते हैं, तो कहीं २ ही पुण्यकी रेखा दीख पड़ती है । पापका भयानक, दारुण दुःख चारों ओर घोर रूपको धारण किये रहता है । वह परमेश्वर सबसे अधिक बलशाली है । उसकी हमारे प्रति सदिच्छा सफल होनी चाहिये थी ।

वस्तु०—भगवन्, बात तो कुच्छ ऐसी ही प्रतीत होती है ।

महा०—प्यारो, वेद जहां यह सन्देश सुनाता है कि भगवान् सबको प्रशंसाके योग्य बनाने वाला है, तो इसका यह तात्पर्य है

कि यदि वे उस योग्यताका पूरा २ लाभ उठाएंगे, तो अवश्य उन्हें यश और कीर्त्तिकी प्राप्ति होगी । इस मन्त्रका पूर्वार्ध हमारे अन्दर इस विश्वासको जागृत करना चाहता है कि हमारा जीवनलक्ष्य उत्तम कर्मों और शुभ भावनाओं द्वारा प्रभु-प्रशंसाका पात्र बनाना होना चाहिये । यदि इस परीक्षामें हमारी त्रुटि रहजाती है, तो इसका यह कारण समझो कि हमारी जीवन-नीति संशोधन चाहती है । प्रभुने कोई पदार्थ हमारे दुःखार्थ उत्पन्न नहीं किया । अज्ञानके कारण दुष्प्रयोग करके हम दुःख पाते हैं । अज्ञानके ही कारण सहस्रों पदार्थों के प्रयोगसे अपरिचित रहते और उसी कमीके कारण कष्ट उठाते हैं ।

लोक०---महाराज, यदि यह बात है तो हमारे सुख दुःख तथा यश अपयश हमारे ऊपर निर्भर ठहरते हैं । ईश्वरकी दया और उसके आशीर्वादकी तो कहीं अपेक्षा प्रतीत नहीं होती ।

महा०---नहीं, प्यारे, जैसे मेघ और भूमिकी योग्यता, दोनोंपर खेतीकी सफलता निर्भर रहती है, वैसे ही प्रभुकी दयावृष्टि तथा अपनी साधना, दोनोंपर ही, प्रत्येक साधकका भाग्यनिर्माण होरहा है । मेघ समुद्र, पर्वत संस्थर और सब स्थानोंपर बरसता है । उसकी दृष्टिमें ऊषर और उर्वरामें कोई विवेक काम नहीं करता । परन्तु परिणाममें कितना भेद दिखाई देता है । इसी प्रकार प्रभुकी कृपादृष्टि तो सबपर एक समान पड़ती है, पर मनुष्य २ की कहानी अलग २ होती रहती हैं । इस मन्त्रका उत्तरार्ध इस बातकी ओर इशारा करता हुआ उपदेश करता है कि मनुष्योंको केवल परमेश्वरकी ही भक्ति द्वारा सारी शक्तिकी प्राप्ति करनी

चाहिये। मत समझो कि प्रभुको छोड़कर कोई और मनुष्य या देवी, देवता अथवा पीर, पैगम्बर तुम्हारा कल्याण करसकता है। जो उनका भी रचने वाला तथा रक्षक है, उसीका एक मात्र आश्रय लेनेसे हमें पूरा लाभ पहुँचसकता है। कभी भूलकर भी उसके स्थानपर किसी अन्यकी पूजा मत करो। नाहीं कभी उसके साथ किसीको मिलाकर पूजाकरो। वही और केवल वही कल्याण करनेमें समर्थ है। और सब उसीसे सामर्थ्य पाकर निर्वाह करते हैं। अतः उसे छोड़कर किसी अन्यकी आराधना करके सच्ची शान्तिकी आशाकरना निपट ढिठाई होगी।

सत्य०—तो इस मन्त्रका तात्पर्य यह निकला कि हम केवल एक ईश्वरको सबका बलदाता, यशोदाता और सुखदाता समझते हुए सदा उसीके आधारपर और उसीकी प्रेरणानुसार अपने २ जीवन मार्गपर चलते रहें। इसीसे सब को सिद्धि मिलेगी।

महा०—बहुत ठीक। जगत्के एक आध्यात्मिक आधार-स्वरूप, परमेश्वरमें असाधारण निष्ठाको धारण करनेसे ही मानव-जीवन सफल होता है। इस प्रकारकी धारणा विचित्र बलको उभारती है। यही अनन्यभावसे भरी हुई भगवद्भक्ति ही, सच पूछो तो सब कामनाओंकी पूराकरनेवाली चिन्तामणि है। वेद भगवान्में इसी दृढ़ताको पैदा करने वाले अनेक स्थल हैं। उन्हींमें से कुछेक सुनाता हूं।

(३) पुरुहूतो यो पुरुगूर्त्त ऋभ्वाँ एकः पुरुप्रशस्तो अस्ति यज्ञैः। रथो न महे शवसे युजानोऽस्माभिरिन्द्रो अनुमाद्योभूत् ॥ ३ ॥ ऋ० ६।३४।२॥

अर्थः—(न) जैसे (महे) महान् (शवसे) पराक्रमयुक्त कर्मके लिये (युजानः) जोड़ा जारहा (रथः) रथ [सुसज्जित कियाजाता है, वैसे ही] (अस्माभिः) हमारे द्वारा [यदि हम वस्तुतः उच्च जीवनका लाभ चाहते हैं] (इन्द्रः) परमेश्वर (अनुमाद्यः) भले प्रकार प्रसन्नकरने योग्य (भूत) है, [वह इन्द्र] (यः) जो [सद् भक्तों द्वारा] (पुरुहूतः) वारम्वार पुकारा जाता है [जो] (पुरुगूर्त्तः) बहुत उन्नत [तथा] (ऋभ्वा) विशाल [है, और जो] (एकः) एकमात्र (यज्ञैः) यज्ञों द्वारा (पुरुप्रशस्तः) बहुत स्तुति कियाजाता (अस्ति) है ॥ ३ ॥

प्यारो, साध्यकी सिद्धि साधनकी उत्तमता और पूर्णता पर निर्भर होती है। जो योधा, वीर, विक्रमी रणभूमीमें विजयी होना चाहता है, उसे पहिले अपने रथको ठोक करके उत्तम शस्त्रास्त्रसे तय्यार करनाहोगा। जीवन-संग्राममें विजयी वह होगा जो अन्य साधनोंके साथ भगवद्भक्तिको भली भान्ति धारणकर लेता है। इसके विना संसारके परम लाभ और विजय मनुष्यके हृदयमें सच्चा सन्तोष उत्पन्न नहीं करसकते। दूसरी ओर, वे तृष्णाकी आगको खूब बढ़ाते हैं। उसी आगमें झुलस कर, आगा पीछा देखनेमें असमर्थ मनुष्य एड़ियां रगड़ २ कर मरता है। पर भगवान्के भक्तोंके हृदयमें सदा सच्ची शान्ति और माथेपर उज्ज्वल कान्ति विराजती है। प्यारो, इस रहस्यको समझनेवाले, सात्त्विक वीर पुरुष, ऋषि और मुनि सदासे भगवान्का सहारा लिये हुए चले आते हैं। युग, युगान्तरमें सब परिवर्त्तनोंके मध्यमें उनकी भक्तिका रस वैसा ही मधुर बना रहता है। उसी परमेश्वरकी

प्राप्ति और आराधनाको लक्ष्यमें रखकर सब यज्ञादि उत्तम कर्म प्रचलित और प्रसिद्ध होते हैं। वह जगदीश्वर सर्वोन्नत, सर्वाधार और सर्वसीमातीत है। प्यारो, वेद उसी एकका आश्रय लेना सिखाता है।

माया०—भगवन्, क्या वेद वस्तुत: एक जगदीश्वरकी शिक्षा देता है। हमतो अबतक यों ही भटकते रहे। कभी अमरनाथ स्वामीको प्रसन्न करना चाहा, तो कभी जगन्नाथ स्वामीकी आर्ती उतारी। पर्वत पर्वत, नदी नदी, वन वन और ग्राम ग्रामका अलग २ देवता मानते रहे। ग्रहों, नक्षत्रों तककी भेएट पूजा करते रहे।

लोक०—लोग भी तो हमें बहु-देवतावादी ही समझते हैं। यह कहकर ही, दूसरे मतों वाले यहांके लोगोंको विधर्मी करते रहे हैं। अबभी यह विधर्म-प्रचारकी लहर वैसी ही चलरही है।

वस्तु०—भली कही। इस लहरके चलानेवालोंके जीवनमें न एक ईश्वरपर और न अनेक देवताओंपर ही विश्वासकी जागृति दिखाई पड़ती है। इस सगरे प्रचारकी घुण्डी लौकिक शक्ति-संग्रह को समझना चाहिये। कुच्छ हो, विशुद्ध अध्यात्मवाद तो इस झमेलेसे कोसों दूर रहता है।

सत्य०—यह भी क्या पता कि कहीं बचा भी है या इसी छीन झपटके जुएमें उसकी बाज़ी ही लग चुकी है।

महा०—मैं प्रसन्न हूं आप सामयिक नीतिके मर्मको समझे हुए हैं। अध्यात्मवाद, सच्चा भक्तिभाव बनावटी उपायों द्वारा विस्तृत नहीं किया जासकता। हां, जब इसके नामपर मुंशी, मुनीम, एजेएट और ढण्ढोरची अपना बाज़ार गरम करते हैं, तो

सच्चाभाव तो कुच्छ सकुचाकर पीछे हट जाता है और दम्भ, कपट, मद और मोहकी चार यारी खूब चलती है। न केवल मनुष्य २ ही लड़ते हैं, उनके देवी और देवताभी उनकी पीठ ठोकते और लड़ने भी लगजाते हैं। मानवजीवनका क्या घोर उपहास है! और, मायाराम जी, यह स्वार्थसे अन्धे हुए २, पक्षपाती लोगोंकी लीला ही समझो जो वे अपने आप तो एकेश्वरभक्तिका दम भरते हैं और इस देशके निवासियोंको नानादेवपूजक ठहराते हैं। वास्तवमें वेद जिस तीव्र भावनामयी, तन्मयी भगवद्भक्तिको प्रदीप्त करता था, वह अब सर्वत्र प्रायः भस्मावशेष ही होरही है। जैसे उपनिषत्कार ऋषियोंने वैदिक भक्तिके रहस्यको समझकर एक, अद्वितीय, परब्रह्मका यश गाया है, वैसे ही हम सबको समझना उचित है। इस मन्त्रमें भी यही संकेत मौजूद है। सब यज्ञोंका तात्पर्य्य उसी एक जगदीश्वरकी स्तुति करना है। प्रचण्ड ज्वाला-ओंमें एक २ आहुति डालतेहुए, सच्चा भक्त उस अनेकोंमें एक भगवान्को ही उद्देश्य और ध्येय मानता है। अच्छा तो, सुनिये।

(४) एकराडस्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः। माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ॥ऋ० ८।३७।३॥

अर्थः—हे (शचीपते) शक्तिके मालिक (इन्द्र) परमेश्वर (अस्य) इस (भुवनस्य) ब्रह्माण्डके (एक-राट्) एकमात्र राजा [होते हुए] (विश्वाभिः) सकल (ऊतिभिः) रक्षाओंके साथ (राजसि) चमकते हो। हे (वृत्रहन्) ढकनेवाले [आधिदैविक तथा आध्या-त्मिक अन्धकार] को मारनेवाले (अनेद्य) भय-चिन्ता रहित [पापि-

योंको दण्ड देनेकेलिये] (वज्रिवः) वज्रसे युक्त प्रभो ! (माध्यन्दिनस्य) दोपहरके (सवनस्य) सवनके (सोमस्य) सोमका (पिब) पान करो ॥ ४ ॥

सत्य०—महाराज, पूर्वार्ध तो स्पष्ट एक, पूर्ण परमात्माकी अद्भुत महिमाका गान करता है । पर उत्तरार्धका क्या तात्पर्य है, यह कुच्छ स्पष्ट नहीं हुआ ।

महा०—प्यारो, पूर्वार्धमें सब शक्तियोंके भण्डार, परमेश्वरकी ओर इशारा करके, उत्तरार्धमें उसीके प्रति अति तीव्र भक्ति-भावका प्रकाश किया गया है । पूर्व बता चुका हूँ कि वेदकी भक्ति विशेषप्रकारकी यज्ञ-संस्थाका सहारा लेकर चलती है । प्रत्येक युगमें बाह्य कर्म-प्रक्रिया तो बदल जावेगी, परन्तु आन्तरिक सच्चा भाव वही रहेगा । प्राचीन सोमयज्ञके तीन सवन अर्थात् रस निकालनेके समय होते थे । प्रातः, दोपहर और सायंके भेदसे भिन्न २ मन्त्रोंसे आहुतियां दी जाती थीं । दोपहर अति-तीव्रताका प्रकाशक समय है । सच्चा भक्त प्रभुसे प्रार्थना करता है कि 'आओ, मेरे दोपहरके सवनको सुशोभित करो और मेरे सोमको स्वीकार करो' । आज जब वह क्रिया लुप्त हो चुकी है, तो हम इसका तात्पर्य दूसरे शब्दोंमें प्रकट करेंगे । हम कहेंगे, 'प्रभो ! आओ २, मैं आपकी प्रतीक्षामें खड़ा हूं । भगवन् ! मेरी भावना दोपहरकी तीव्रताको धारण कर चुकी है । क्या इसे स्वीकार न करोगे ? "

वस्तु०—महाराज, इस तरहसे तो वेदके शब्दोंके मुख्य अर्थ छोड़कर नये अर्थ कल्पित करने होंगे ।

महा०— बेटा ! प्राचीन शास्त्रोंके प्रति यही व्यवहार युक्तियुक्त है। जहां तक उनका शब्दार्थ जाता है, वहां तक तो उस समयकी स्थितिको लक्ष्यमें रखकर मुख्यार्थका ग्रहण करना चाहिये, पर जब उनके द्वारा बतायी हुई नित्य सच्चाईयोंको जीवनमें धारण करके लाभ उठानेका प्रयोजन हो, तो तात्पर्यकी छायाको वर्त्तमान स्थितिके पीछे चलने वाली भाषामें प्रकट करना चाहिये। इस प्रकार से शब्दानुवाद तथा छायानुवाद भेदसे दो तरहके व्याख्यानोंकी परिपाटी चलनिकलेगी।

लोक०—भगवन् ! पहिले प्रकारके व्याख्यानोंसे लाभ क्या होगा ?

महा०—प्राचीन स्थितिका इतिहास-निर्माण होगा। उस समय के भिन्न २ लोगोंको परस्पर साहित्यिक, धार्मिक तथा व्यावहारिक सबन्धका परिचय प्राप्त होगा। इधर केवल विद्यारसिक लोगोंकी ही प्रवृत्ति होगी। जनताका लाभ समयानुसारी भावानुवादों तथा नूतन प्रेरणाओंके आधारपर ही संभव है। इस विचारके जटिल जालको अभी रहने दो। देखो तो सही, वेदका ईश्वरके एक, अद्वितीय स्वरूपके भावात्मक प्रतिपादनमें कितना गौरव है !

(५) यो भोजनं च दयसे च वर्धनमार्द्रादा शुष्कं मधुमद्द दुदोहिथ। सः शेवधिं निदधिषे विवस्वति विश्वस्यैक ईशिषे सास्युक्थ्यः॥ ५॥ ऋ० २।१३।६॥

अर्थः—(यः) जो (भोजनं) भोजनको (च) तथा (वर्धनं) पुष्टिको (दयसे) [कृपा पूर्वक] देते हो, (आर्द्रात्) गीलेसे (मधुमत्) मीठे (शुष्कं) सूखेको (आ-दुदोहिथ) निकाल देते हो, (सः) वह

[आप] (विवस्वति) सूर्यमें (शेवधिं) कल्याणका कोष (नि-दधिषे) धारण करते हो [और] (विश्वस्य) सबके (एकः) एक मात्र (ईशिषे) ईश्वर बनते हो [हे प्रभो !] (सः) वह [आप] (उक्थ्यः) स्तुतिके योग्य (असि) हो ॥ ५ ॥

इसका भाव तो बड़ा सरल है। वह परमेश्वर स्तुति तथा पूजाके योग्य है जो एक, अद्वितीय, सबका पालन, पोषण तथा रक्षण करने वाला, सूर्य तकको प्रकाश तथा जीवनका दान देनेवाला और सबका राजाके समान निरीक्षण करने वाला है।

सत्य०--भगवन्, गीलेसे सूखा मीठा क्या निकलता है ?

महा०--बेटा, गीली भूमिसे भोजनको प्राप्त करते हुए गेहूं, चावल आदिके गीले २ पौदे पैदा होते हैं। उनकी कौंपलें, पत्ते तथा नाल आदि सब गीले होते हैं, पर जो मिठाससे भरे हुए दाने पैदा होते हैं, जिनके ऊपर हमारा जीवन निर्भर है, वे सूखे होते हैं। और सच पूछो, तो सारी पृथिवीका भी तो यही हाल है। खारी जलके भरे हुए सागरोंमें से भगवान्‌की प्रेरक शक्तियों द्वारा मीठे रसोंसे भरी हुई, सूखी भूमि निकल रही है।

(६) भूय इद्वावृधे वीर्यायँ एको अजुर्यो दयते वसूनि। प्ररिरिचे दिव इन्द्रः पृथिव्या अर्धमिदस्य प्रति रोदसी उभे ॥ ६ ॥ ऋ० ६।३०।१॥

अर्थः—(इन्द्रः) परमेश्वर (वीर्याय) पराक्रमयुक्त चमत्कारके लिये (भूयः इत्) बहुत ही (वावृधे) वृद्धिको प्राप्त हो चुका है [वह] (एकः) एक (अजुर्यः) क्षयरहित (वसूनि) सब धनोंको (दयते) प्रदान

करता है, [वह] (दिवः) द्युलोकसे [तथा] (पृथिव्याः) पृथिवीसे (प्र-रिरिचे) बढ़कर बचा हुआ है, (अस्य) इसका (अर्ध) आधा (इत्) ही (उभे) दोनों (रोदसी) लोकोंके (प्रति) बराबर [है] ॥६॥

प्रिय सज्जनो, जितना पराक्रमयुक्त चमत्कार है। उसका अनादि आधार जगदीश्वर है। उसके परम स्वाभाविक विकासके सामने अद्भुतसे अद्भुत चमत्कार मात पड़ जाता है। उसका बल और पराक्रम कभी बूढ़ा नहीं होता। वह भगवान् सदा अखण्ड, एकरस रहने वाला है। वही एकमात्र सबको सब कुच्छ, धन, यश आदि दे रहा है। उसकी विशालताका वर्णन नहीं होसकता। भूमि और आकाश उसके अन्दर समारहे हैं, पर वह इनके अन्दर परिमित नहीं होसकता। उसकी महिमाका एक भाग ही इनको घेरकर शासनमें रखनेकेलिये बहुत पर्याप्त है। धन्य हैं वह परम प्रभु, उसका वर्णन करना असंभव है।

(७) सत्यमित्तन्न त्वावाँ अन्यो अस्तीन्द्र देवो न मर्त्यो ज्यायान्। अहन्नहिं परिशयानमर्णोऽवासृजो अपो अच्छा समुद्रम् ॥ ७ ॥ ०—४॥

अर्थः—(तत्) तो (सत्यम्-इत्) वस्तुतः (इन्द्र) हे इन्द्र (अन्यः) दूसरा (देवः) देवता [या] (मर्त्यः) मनुष्य (न) (त्वावां) तेरे ऐसा [है, और] इसी लिये तुझसे (न) [ही कोई] (ज्यायान्) बड़ा हुआ (अस्ति) है। [तुमने] (अर्णः) जलको (परि-शयानं) घेरकर रोकने वाले (अहिं) अजगरको (अहन्) मारा है [और] (अपः) जलोंको (समुद्रं) समुद्रकी ओर (अच्छा) अच्छी तरह (अव-असृजः) बहाया है ॥ ७ ॥

प्यारो, पूर्वार्ध में स्पष्ट रूपसे भगवान्का इस संसारका अद्वितीय, अनुपम, पूजनीय देव बताया है। जब उसके बराबर ही कोई देवता या मनुष्य नहीं तो बड़ा क्योंकर होसकता है।

माया०—क्या देवता अनेक हैं?

महा—हां, वेदमें भगवान्की विभूतियोंको देवता बताया गया है। प्रत्येक विभूति उस प्रभुका प्रकाशयुक्त स्वरूप ही समझना चाहिये। परन्तु उसके पूर्णस्वरूपकी तुलना कोई एक विभूति कैसे करसकती है। इसलिये उस सर्व-विभूतिमय देवको देवोंका देव अर्थात् महादेव भी कहते हैं।

सत्य०—उसका संकेत क्या है?

महा०—उसका संकेत है मौनकी मुहर। एक पक्षीके सामने अलग २ दाने बिखरे पड़े हों तो वह अपनी शक्ति और रुचिके अनुसार चुगलेता है। पर जब उन्हीं दानोंको गुड़ आदिके साथ गरमकरके संगठित पिण्डका स्वरूप देदिया जाता है, तो उस पत्थरपर पक्षीकी चोंच कुछ नहीं करसकती। वह न सारे पिण्डको ही उठासकता है और ना ही उसे तोड़सकता है। चुपकरके, हैरान होकर पास बैठजाता है। मीठेकी वासना उसे वहांसे हटने भी नहीं देती। इसीप्रकार, भगवान्के सरल उपासक उसके स्वरूपकी अनन्त विभूतियोंमें यथारुचि रमण करतेहुए, जब शनैः २ सब विभूतियोंको महाविभूतिमें, सब देवताओंको एक महादेवमें केन्द्रित होतेहुए पाते हैं, तो आश्चर्यचकित होकर उस अनिर्वचनीय शक्तिको अपने अन्दर और बाहर अनुभव करतेहुए उसका कुछ भी वर्णन नहीं करसकते। उनके होंट बन्द होजाते हैं। उनका

हृदय अनुभव करता है । उनके नेत्रोंसे आनन्द-नीर बहता है । पर वे कहते कुछ नहीं ।

वस्तु०— और, यह जो भक्तोंके स्तोत्र और भजन बनेहुए हैं, क्या यह उस महाप्रभुका वर्णन नहीं ।

महा०—नहीं, यह उसके स्वरूपके खण्डोंका चित्र सा है । एक समयमें हमारी संकुचित शक्ति कठिनतासे कहीं एक ही खण्डको ग्रहण करसकती है । पर वास्तवमें भगवान् तो अखण्ड है । उसके खण्ड कैसे ? यह सब समझने समझानेकेलिये मानवी कल्पनाएं हैं । अस्तु, अभी उपस्थित मन्त्रके भावकी ओर ही ध्यान दीजिये । उत्तरार्धमें क्या कहा है ?

सत्य०—हां, महाराज, उत्तरार्धमें वर्णित अजगर कौन है और सारा संकेत क्या है ?

महा०—जल भी भगवान्की रचनामें एक अद्भुत पदार्थ है । जलका इतिहास रचनाक्रमका इतिहास है । जल एक है पर उसके रूप अनेक हैं । सृष्टिका मूलतत्त्व एक है, पर उसके परिणाम अनन्त हैं । जल-बिन्दुओंकी सूर्य-किरणोंसे कुछ ऐसी प्रीतिहै, कि उनके प्रेम-पाशमें बन्धी हुई, न केवल कुएं तालाब आदि अपने घरोंको छोड़कर उन्हींकिरणोंके साथ उठ खड़ी होती हैं, वरन् अपना स्थूल आकार छोड़कर ऐसी सूक्ष्म वाष्पावस्थाको धारण करलेती हैं कि उनको घरसे भागतेहुए कोई देख भी नहीं सकता । वे चुपकेसे ऊपर चली जाती हैं । पर अभी थोड़ी ही दूर जाती हैं, तो अन्तरिक्ष लोकमें पकड़ी जाती हैं । घरसे तो बच कर निकल आयी थीं, पर अब प्रतीत होता है, किसी अजगरने उन्हें घेर लिया है । बहुत फड़फड़ानेपर भी उसकी

लपेटसे नहीं निकलसकतीं। उनका माथा मलिन होजाता है और वही श्याम मेघके रूपमें प्रकट होता है। अन्तरिक्षकी सरदी आदिकी अप्रत्यक्ष शक्तियोंको जो ऊपर उठतेहुए जलोंको जमाकर बादल बना देती है, वेदमें अलंकाररूपसे अजगर आदि द्वारा संकेतित किया है। उन रुके हुए जलोंको यदि भगवान्की अद्भुत शक्ति बार २ नीचे बरसाती और समुद्रकी ओर बहाती न रहे, तो संसारके समस्त, सौन्दर्यमय जीवनकी कपालक्रिया हो जावे। यह भगवान्की महिमा है कि वह जैसे जलके चक्रको घुमाता है, वैसे ही सगरे संसार चक्रको चलाता है। वही इसका जन्म तथा स्थितिका हेतु है और वही प्रलयकर्त्ता होकर पुनः २ जन्मदाता है। जब वह कलाको एक ओर घुमाता है, तो कोई प्रतिबन्धकरूपी अजगर या वृत्र उसके मार्गमें खड़ा नहीं रह सकता। वस्तुतः, वह प्रतिबन्धक भी उसीकी शक्तिका संकेत है और वह विसर्ग भी उसीकी महिमाका रूपान्तर है। सज्जनो, जलका उदाहरण अति सरल और स्पष्ट है। पर गहरी आंखसे देखो, तो प्रत्येक पदार्थ अव्यक्तसे व्यक्त और व्यक्तसे पुनः अव्यक्त होता हुआ प्रतीत होजाता है। हमारा ज्ञान व्यक्तकी थोड़ी सी परिधिमें बन्धा रहजाता है। उससे पूर्व और पीछेको जाननेके साधन हमारे पास नहीं हैं। प्रभु सर्वज्ञ, सर्वविधाता है, वही इस यन्त्रको अनादि कालसे यथावत् घुमारहा है। उसीकी भक्तिकी ओर संकेत करना इस मन्त्रका तात्पर्य समझो। उसीकी अप्रतिहत शक्तिका अगले मन्त्रमें वर्णन है।

(८) को अस्य शुष्मं तविषीं वरात एको धना भरते

अप्रतीतः । इमे चिदस्य ज्रयसो नु देवी इन्द्रस्यौजसो भियसा जिहाते ॥ ८ ॥ ऋ०५।३२।९॥

अर्थः—(कः) कौन [है, जो] (अस्य) इसके (शुष्मं) तेज [और] (तविषीं) बलको (वराते) रोकसके ? [यह] (एकः) एक (अप्रतीतः) विना रुकावट अनुभव किये (धना) धनोंको (भरते) धारण करता है । (नु) ऐसे प्रतीत होता है, मानो, (इमे) यह (देवी) शक्तिशाली [दोनों लोक] (चित्) भी (अस्य) इस (ज्रयसः) वेगवान् (इन्द्रस्य) परमेश्वरके (ओजसः) ओजके (भियसा) डरसे (जिहाते) कांप रहे हैं ॥८॥

संसारमें प्रत्येक धन और ऐश्वर्य उसी एक महाप्रभुमें केन्द्रित है । उसका शासनचक्र कभी भी न रुकसकने वाली गतिसे चलता है । सब लोक, लोकान्तर उसीके नियममें बंधे हुए आकाशमें घूम रहे हैं, मानो उसके भयसे कांप रहे हैं । क्या सुन्दर कल्पना है ! दूरसे तारागण कांपते हुए ही प्रतीत होते हैं ।

(९) स हि विश्वानि पार्थिवाँ एको वसूनि पत्यते । गिर्वणस्तमो अध्रिगुः ॥ ९ ॥ ऋ० ६।४५।२०॥

अर्थः—(सः) वह (हि) ही (एकः) एक (पार्थिवा) संसारके (विश्वानि) सब (वसूनि) धनोंक । (पत्यते) स्वामी है । [वह] (गिर्वणस्तमः) अत्यन्त स्तुतिके योग्य [और] (अध्रिगुः) न रुकने वाली गति वाला है ॥ ९ ॥

प्यारो, इसी प्रकार उस अपार ब्रह्मकी अनुपम महिमाका वर्णन वेदमें स्थल २ पर चलता है । केवल एक और मन्त्र सुना कर आजके कथनको समाप्त करूंगा । सुनिये,

(१०) स रायस्खामुप सृजा गृणानः पुरुश्चन्द्रस्य त्वमिन्द्र वस्वः। पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा ॥ १०॥ ऋ० ६।३६।४॥

अर्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर, (सः) वह (त्वं) आप (गृणानः) स्तुतिसे प्रेरित होते हुए (पुरुश्चन्द्रस्य) बहुत चमकीले (वस्वः) वसनशील (रायः) ऐश्वर्यकी (खां) नदीको (उप-सृज) बहावें। [आप] (जनानां) प्रजाओंके (असमः) अद्वितीय (एकः) एकमात्र (पतिः) मालिक [और] (विश्वस्य) सारे (भुवनस्य) ब्रह्माण्डके (राजा) (बभूथ) हो ॥ १० ॥

मेरे विचारमें इन मन्त्रोंको सुनकर आपको वैदिक भक्तिके एकमात्र, सर्वदेवमय, सर्वज्योतिर्मय, उपास्यदेवके मायारूप, अनेक रूपोंमें एकरूप, स्वरूपका कुच्छ दिग्दर्शन अवश्य प्राप्त हुआ होगा। अब कुच्छ दिन इसी अद्भुत स्वरूपका रसास्वादन करेंगे।

चतुर्थ खण्ड

वैदिक देवताओंका रहस्य।

सत्य०—महाराज, क्या वस्तुतः वेद एक ईश्वरकी पूजाका विधान करता है?

महा०—अभिप्राय क्या है? एक नहीं, दो नहीं, दस मन्त्रोंकी व्याख्या करतेहुए, कल इसी बातका तो प्रतिपादन किया गया था। क्या कुच्छ संशय पैदा होगया? कोई बात नहीं। निःसंकोच होकर मनकी बात प्रकट करें।

सत्य०—भगवन्, जब मैं अपने स्थानपर पहुँचा, तो यह (इशारा करके) मेरे पहिलेसे परिचित मित्र मेरी प्रतीक्षा करतेहुए मिले। आप बड़े सहृदय, सज्जन तथा सुपठित विद्वान् हैं। (उसने महात्माको प्रणाम किया)।

महा०—महाशय, मैं आपका स्वागत करता हूं। आपका शुभ नाम स्थान क्या और कौनसा है?

आगन्तुक—महाराज, मेरा जन्म नवद्वीपके एक पुराने ब्राह्मण-कुलका है। मेरे पिताजीकी रुचि नवीन शिक्षा तथा अर्वाचीन भाषाज्ञानमें कुच्छ विशेष थी। मैंने घरपर कुच्छ थोड़ा बहुतसंस्कृत विद्याका अभ्यास जब करलिया, तो मुझे अंग्रेजी विद्यालयमें प्रविष्ट करा दिया गया। कुच्छ वर्षोंके पीछे मुझे कुमार-दशामें ही भारतसे बाहर शिक्षार्थ भेज दिया गया। वहांपर अन्य विषयोंके

साथ भिन्न २ धर्मों के साहित्यावलोकनका भी अवसर मिला। वेदादिशास्त्रोंके भी अंग्रेजी तथा जर्मन भाषानुवाद पढ़े। थोड़े ही दिन हुए वापिस आया हूँ। सत्यकामजीसे मिलनेको चिरकालसे चित्त चाहता था। इसी प्रसंगसे आप ऐसे महात्माओंके सत्संगका सौभाग्य प्राप्त हो गया। प्रभुको धन्यवाद है। मेरा नाम सदाशिव वाजपेयी है। भगवन्, इस आत्म-वर्णनसे मैंने आपका बहुमूल्य समय व्यर्थ लेलिया है, क्षमा कीजिएगा।

महा०—ठीक है। अब मुझे बात समझमें आगई। आपकी आपसमें कलके विषयपर कुछ चर्चा चली होगी।

सदा०—जी हां, मैंने साधारण संकेत किया था कि नवीन भाष्यकार वेदों में नाना देवताओंकी पूजाको स्वीकार करते हैं। यज्ञादिमें भिन्न २ देवताके उद्देश्यसे आहुति होमी जाती थी। अग्नि, इन्द्र, वरुण आदिकी पृथक् २ स्तुतियां पायी जाती हैं। पीछे आकर, कुच्छ पुराने और कुच्छ नये देवताओंके वर्णनकेलिये पुराण बने। मैं स्वयं तो वेदविद्यासे विशेष जानकारी नहीं रखता, इसलिये स्वतन्त्रतासे न इन बातोंको यथार्थ ही कहसकता हूँ और न ही इनका खण्डन करसकता हूँ। अतः, मैं भी आपके पास जिज्ञासु-भावसे ही आया हूँ। आप कृपया अपने परिमार्जित विचारोंसे सबके साथ मेरा भी उपकार करें।

सत्य०—महाराज, मेरे प्रश्नका भी यही अभिप्राय था। मैं चाहता हूँ, वैदिक देवता-वादके रहस्यको आपसे भली भांति समझ सकूं। कल ही आपने जितने मन्त्रोंकी व्याख्या की, उन सबके अन्दर 'इन्द्र' की महिमा गाई गयी है। क्या 'इन्द्र' परमेश्वर ही का

नाम है, या वह कोई भिन्न अवान्तर देवता है ? इसी प्रकार, दूसरे मन्त्रोंमें अन्य २ देवताओंके स्तोत्र पाये जाते हैं। उनका और 'इन्द्र' का परस्पर क्या संबन्ध है ? उनका और परमेश्वरका क्या संबन्ध है ? यदि वे भिन्न २, स्वतन्त्र देवता हैं, तो एक परमेश्वरकी पूजा वेदद्वारा प्रतिपादन किस तरहकी जासकती है ?

वस्तु०—भगवन्, इस विषयको अवश्य खोलकर कहिये । इसका निर्णय होजानेसे, कितनी ही बातें खुल सकेंगी ।

महा०—वस्तुतः इस विषयको समझकर आपका तथा आपके द्वारा दूसरोंका बहुत लाभ सिद्ध होगा । इस समय नयी, पुरानी समस्याओंके उलझनमें पुराने रहस्योंका लोप होरहा है । लोग गहराईमें गये बिना ही, निर्णय करने लगजाते हैं । एक अर्थ होता है, तो दस अनर्थ होजाते हैं। मैंने यह जानते हुए भी, आपके सम्मुख केवल प्रेरणाकी दृष्टिसे भावार्थ ही रखनेका यत्न किया है। मुझे यह जँच रहा है कि वैदिक धर्मका सन्देश सुनने सुनानेका सामर्थ्य जीवन-नीतिके सुधारपर निर्भर है। यह केवल मस्तकका खेल नहीं है ।

माया०—महाराज, यथार्थ बात है ।

लोक०—पर अब जबकि एक विद्या-संबन्धी ग्रन्थि उपस्थित करदी गई है, तो यही उचित है कि उसे खोला जावे ।

महा०—ऐसे ही होगा। दो तीन दिनमें थोड़ा २ भाग लेकर प्रकरणबद्ध करके आपके सामने रखनेका यत्न करूंगा । उसमें जो २ युक्तियुक्त तथा सत्य प्रतीत हो, उसे ही ग्रहण करना और शेषके सम्बन्धमें जिज्ञासा बनाये रखना ।

वस्तु०—क्या आपको पूरा निश्चय नहीं है ?

महा०—नहीं, यह भाव नहीं है। वेद अत्यन्त प्राचीन होनेसे नित्यकी व्यावहारिक बोलचालके सदृश स्पष्ट या प्रत्यक्ष नहीं है। इसमें किसीको भी संदेह नहीं होसकता। अब मुझे वेदके अर्थोंके विषयमें कोई आर्ष या प्रातिभ चमत्कार प्राप्त हुआ हो ऐसी भी मेरी प्रतीति नहीं है। मैंने एक दृष्टिकोणसे निरन्तर अभ्यासद्वारा जो मत निर्धारित किया है, हो सकता है, दूसरे भाईको वह पसंद न हो। अतः यह मेरा आग्रह न होना चाहिये कि जो कुछ मैं कहताहूं, वह शतांश मानने योग्य ही है। मैं अपनी ओरसे निष्कपट भावसे ही सब कुछ कहूँगा। पर आपको परीक्षणके अनन्तर त्याज्यको त्याग करनेका पूर्ण अधिकार होगा। ऐसी ही रीति विद्यारसिकोंको मनोहर प्रतीत होती है।

सदा०—आपने जो कुछ कहा है, उपयुक्त ही कहा है। हम उसी भाव तथा वृत्तिसे दत्तावधान होकर सुनेंगे।

महा०—प्यारो, कवि और साधारण मनुष्यमें क्या भेद होता है? कविकी आंख साधारण वस्तुओंमें असाधारणताका दर्शन करती है। वेदभी एक काव्य है और यह विशाल, सुन्दर संसार भी एक काव्य है। आर्ष दृष्टिके सामने एक २ पदार्थ विचित्र प्रकारसे नाटक करता हुआ, मानो, इस महाकाव्यके रहस्योंका व्याख्यान करता है। अग्नि एक साधारण, सर्वपरिचित, दिन रातके व्यवहारमें आने वाला पदार्थ है। कर्मकाण्डी, त्यागशील, होताकेलिये अग्नि साधारण अग्नि नहीं रहती। वह उसके अन्दर एक २ आहुति डालता हुआ, मानो, संसारके सहस्रों देवताओंके साथ एक रूप-

ताको प्राप्त होरहा है। वे सभी देवता होम कररहे हैं। अपने आपको सबके उपकारकेलिये प्रतिक्षण खपा रहे हैं। वे सब होता हैं। सूर्य होता है, चन्द्र होता है, तारागण होता हैं। जल और वायुमें, अग्नि और बिजुलीमें, पृथिवी और आकाशमें यही त्यागका भाव, शब्द रहित, विज्ञापनरहित दानकाभाव निरन्तर काम करता हुआ प्रतीत होता है। साधारण दृष्टिके सामने अग्नि रोटी पकाती है और जलको गरम करती है। कभी २ कोप होजाने पर सर्वनाश भी करडालती है। पर उसमें कोई विशेष सुन्दरता नहीं प्रतीत होती। कविताकी दृष्टि झट उसमें सौन्दर्यका दर्शन करने लगती है। उसकी नाचती हुई, लाल, पीली, उज्ज्वल, प्रचण्ड लपटें, उनके चटचटा २ करते हुए पटाखे, उनका नीला, काला धुआं-एक २ बात नये भावसे भर जाती है। कविके द्वारा खींचा हुआ चित्र हमारे हृदयमें एक अपरिचित सी अग्निका परिचय पैदा करके, विस्मय-रससे रञ्जित करदेता है। यह काव्यका आरम्भ है।

पूर्व कहे प्रकारसे, त्यागव्रतधारी कवि कविताके साथ एक और दिव्य भावको मिलाकर देखना आरम्भ करता है। अग्निमें वह होम करके विश्व-विख्यात होताओंका वह साथी बनरहा है। अग्नि उसके और उनके मध्यमें एक दिव्यदूतका काम करती है। वह और आगे बढ़ता है। स्वयं अग्नि होताके रूपमें भासने लगती है। वह भस्मकारक शक्ति न रहकर, विश्वरक्षक शक्ति बनजाती है। अब उस शक्तिका विस्तृत कार्यक्षेत्र पृथिवी तक परिमित न रहकर, अन्तरिक्ष और द्युलोक भी घेर लेता है। अब वह सर्वव्यापक, महाविधायक, अद्भुत शक्तिके रूपमें प्रतीत होती है।

इसी प्रकार काव्य भावभरित, चमत्कारी दृष्टि सूर्यको देखती २ वहीं तक पहुँचा देती है। इसी क्रमसे अन्य शक्तियोंके स्वरूपका हृदयपटपर विस्तृत और ओजस्वी उल्लेख होता है। सभी तेजो-युक्त, बलयुक्त, वेगयुक्त भौतिक पदार्थोंको इस रीतिसे अपनी संकुचित परिधिसे बाहर निकालकर परम विस्तारको पहुँचा दिया जाता है। वे सब के सब अनन्त बल और वीर्यके स्रोत प्रतीत होने लगते हैं। अब सूर्य, सूर्य नहीं रहता, वायु, वायु नहीं रहता और अग्नि, अग्नि नहीं रहती। वे सब अद्भुत, विशाल, अनुपम, शक्ति-शाली, अनन्त सर्वत्र शासनयुक्त, दिव्य पदार्थ होजाते हैं।

आर्ष दृष्टि आगे बढ़ती है। यह अनन्त, अनुपम शक्ति, जो सूर्य, वायु, अग्नि आदिमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होरही है, यह एक है, यह नाना नहीं होसकती। वही एक सूर्यमें मौजूद है, वही एक वायुमें और वही एक अग्नि तथा अन्य अगणित पदार्थोंमें मौजूद है। इसी सुप्रतिष्ठित आधार पर, उस अन्दर घुसनेवाली आंखको विश्व-नीतिमें सर्वत्र भिन्न २ पदार्थोंका परस्पर सहयोग देख पड़ता है। आपातिक विरोध विचार करनेपर यथार्थ मित्रतामें बदल जाता है। एक २ पदार्थकी तेजोमयी, दिव्य सत्ता परस्पराश्रित है। इसी व्यापक संबद्धताके कारण द्युलोक, अन्तरिक्षलोक तथा पृथिवीलोकमें अनन्त शक्तियोंके नाटकके होतेहुए भी शान्तिका अभंग साम्राज्य बनारहता है।

परमार्ष दृष्टि एक पग और आगे धरती है। जब वह अनन्त, अभिन्न शक्ति सर्वत्र एक है, तो सूर्यादि शक्तियां उसी २ के भिन्न २ प्रकाश हैं। वेसभी उसके अंश भी हैं और उसका सकल स्वरूप भी

हैं। उन सबमें वह पूरी शक्ति प्रकाशित होरही है। अतः सूर्य वायुसे और वायु अग्निसे न न्यून है और न अधिक है। पर हां, जिस समय वह अन्तदर्शिनी आंख जिधर लगती है, उसे उस समय उधर ही पूर्णता तथा श्रेष्ठता दिखाई देती है। पर परमार्थ-दृष्टि झट समानताको स्थापित करतीहुई एकरूपता और एकरूपतासे एकताको धारण करादेती है। अग्नि सूर्य है, अग्नि वायु है और अग्नि सब अद्भुत पदार्थ है। इसी तरह एक २ पदार्थका नाम दूसरे पदार्थोंके नामोंका पर्याय-पद बन जाता है और जब सब पदार्थोंमें शक्ति एक है, तो ये सब नाम उसी एक सत्ताके भिन्न २ प्रकाशोंके द्योतक होजाते हैं। वह मूल शक्ति एक है। उसके नाम अनेक हैं। उसके स्वरूप अनेक हैं।

अब उसकी महिमा देख सकनेवाली आंख अभ्यस्त होचुकी है। अब उसे वह शक्ति केवल विशेष चमत्कारी दस, बीस पदार्थों तक ही सीमित नहीं जंचती। अब उसे नदीमें, सर और कासारमें, गुफा और गहन बनमें, वृक्षोंमें, शाखाओं और उनके एक २ पत्तेमें, लताओंमें, बेलों और उनके एक २ सुन्दर पुष्पमें, अपनेमें, अपने एक २ अंग और प्रत्यंगमें, सबके अन्दर और सबके बाहर उसी एक, आश्चर्यमयी, रहस्यमयी, मायामयी शक्तिका भान होने लगता है। जिस यज्ञवेदी पर वह बैठकर होता बनकर एक २ आहुति डालता हुआ। इस समाहित अवस्थाको, इस विचित्र लोकोत्तर विकास को प्राप्त हुआ है, उसका एक २ उपकरण भी उसी शक्तिका प्रकाशस्वरूप जंचने लगताहै। अब घास घास नहीं रहता, दर्वी, दर्वी नहीं रहती। ओखल और मुसल कुछ और होजाते हैं। सोम कुछ

और होजाता है। शिला और प्रस्तर कुछ और होजाते हैं। निराला है, सचमुच निराला है। यह भावका संसार वस्तुतः निराला है।

वह परम शक्ति जो इन सभीमें है और सभोसे बढ़कर है, इस विश्व-यज्ञकी महा-होत्री शक्ति है। वह शुद्धव्रतधारिणी, सत्यमयी, ऋतमयी, तपोमयी, त्यागशीला, सर्वधारिणी, धरित्री है। वह पापविनाशक, धर्मरक्षक, पवित्रबलको धारण करने और बढ़ाने वाली है। उसीके सहयोग तथा संसर्गसे हमारे अन्दर धर्मका अंकुर प्रफुल्लित होसकता है। इस विचारके प्रस्फुरित होते ही वेदका आर्ष महाकाव्य एक नवीन रससे रञ्जित होजाता है। वह भक्तिका रस है। भक्ति एकतानताका नाम है। भक्ति तादात्म्य-महामन्त्रका जाप है। सच्चा वैदिक भक्त जगन्नियन्त्री शक्तिसे एक होकर रहनेमें सच्चे आनन्दका लाभ करता है। सूर्यादि शब्दों द्वारा उनके शक्यार्थसे लक्ष्यार्थ और परमार्थपर जा पहुँ-चता है। वह सूर्यको नमस्कार करता हुआ अग्निको, और अग्निको नमस्कार करता हुआ सूर्य को नमस्कार करता है। उसके सामने न अब भौतिक सूर्य है और न अग्नि है। उसका परमदेवता तो उसके हृदयमें है। बाहर उसके प्रकाशमान संकेत और प्रकाश हैं जो नित्य उसका संदेश सुनाते हैं।

उस परम देवताके संदेश सुनानेवाले भी देवता हैं। अतः सूर्य भी देवता, वायु भी देवता है और अग्नि भी देवता है। वैदिक साहित्यमें सहस्रों साधारण पदार्थ जब इस आध्यात्मिक संकेतके स्वरूपको धारण करलेते हैं, तो देवताकी पदवीको प्राप्त होजाते

हैं। ऋषि भगवान्‌का भक्त उनके आगे बैठा है। झट अन्दरका तार बजता है। स्तोत्र चल पड़ता है। भौतिक वर्णन पीछे रह जाता है। संकुचित मर्यादाका त्याग होजाता है। साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप मनके सामने है। शरीर भौतिक पदार्थके सामने है, परमात्मा त्रिलोकीमें व्यापरहे प्रभुके सर्वत्र विद्यमान, कल्पित चरणोंमें सिर झुकाये प्रेमाश्रुओं द्वारा विरह-व्यथाको सुना रहा है। सार यह है कि वैदिक देवतावाद मनुष्यको भौतिक भुलाकर आध्यात्मिक रस पिलानेवाले रहस्यमार्गका नाम है। साधारणसे साधारण व्यक्ति इसके द्वारा उत्तरोत्तर दृष्टिप्रसादको प्राप्त होता हुआ, अन्तमें उस पदको पासकता है जब केवल 'वह और मैं' से आगे निकलकर 'तू और मैं' और 'मैं-तू' के दर्जे तक जा पहुँचता है। अतिसंक्षेपसे यह समझो कि वेद किसी भी भौतिक पदार्थको देवताके रूपमें प्रयोग नहीं करता। जबतक वह इस आध्यात्मिक संकेतसे युक्त न होजावे। हाँ हरेक पदार्थ देवता है जब उसमें इस संकेत प्रदात्री दृष्टिका समावेश करके, उसके द्वारा भगवद्भक्त परम आध्यात्मिक तत्त्वका चिन्तन करता है या दयापूर्ण विश्व-विधात्री शक्तिसे बलादिकी प्रार्थना करता है। सार यह है कि देवता भौतिक नहीं; वरन् भौतिक स्वरूपोंमें आध्यात्मिक संकेतोंका नाम हैं। वे सब एक दूसरेके अङ्गोंके रूपमें तथा स्वरूपमें भी वर्णन करदिये जाते हैं। सर्वत्र अभिप्राय होता है कि उन सबमें एक ही महाप्रभु विराजता है। स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना तो सर्वत्र उसीकी कीजाती है, परन्तु उसके अनाम तथा अरूप होनेसे, समझने समझानेकेलिये, अनेक संकेत तथा संकेतोंके आधारपर भौतिक वर्णनका आश्रय

लियाजाता है।

वस्तुतः, वेदके अन्दर इसी प्रक्रियाकी अधिकता पाई जाती है। इसे ही ऋषियोंने आधिदैविक प्रक्रियाके नामसे पुकारा है। इसके साथ ही एक दूसरी आध्यात्मिक प्रक्रिया भी पाई जाती है। जहां आधिदैविक प्रक्रियाका आधार बाहर दृष्टिगोचर होने वाला, अद्भुत, सुन्दर, विशाल, क्रमबद्ध ब्रह्माण्ड है, वहां आध्यात्मिक प्रक्रिया का आश्रय पुरुषका आन्तरिक, इन्द्रियातीत, मनकी गतिसे परे विराजमान, परम सूक्ष्म वस्तुतत्त्व है। आधिदैविक प्रक्रिया द्वारा विराट् स्वरूपका दर्शन करतेहुए, तिनकेसे लेकर सूर्य पर्यन्त, सब पदार्थोंकी रचना, स्थिति तथा संहारमें मूलकारण, जगन्नियामक, सर्वप्रवर्त्तक, मंगलमय, कल्याणकारी, परमाद्भुत देवका अनुभव तथा जीवन्त जाग्रत विश्वास पैदा करना अभिप्रेत होता है। आध्यात्मिक प्रक्रिया द्वारा उसी महादेवको अपने प्राणोंके प्राण तथा अपने भाग्यके विधाताके रूपमें, अन्दर और बाहर समानरूपसे वर्त्तमान होकर सबके जीवनको सफल बनातेहुए प्रतीत करना लक्ष्य होता है। सच्ची सफलताका सूत्रपात तब होता है जब दोनों प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त अनुभव एक लक्ष्य पर केन्द्रित होकर, मानव हृदयको सर्वत्र व्यापक, अखण्ड एकरस भगवान्के चरणोंमें विनम्र करदेता है। प्यारो, मैं आज इतना ही कहूँगा। मुझे भय है कहीं और अधिक व्याख्यान सुनते २ आपका चित्त ऊब न जावे।

सदा०—नहीं महाराज, यह कैसे होगा?

महा०—और कोई भाव नहीं है। विषय कुछ अपरिचित सा

होनेसे ऐसे हो ही जाता है। अभी मैंने बहुत स्थूलरूपसे केवल रेखामात्र ही वर्णन किया है। मेरा विचार यह है कि जो कुछ बता चुका हूँ उसे और जो और शेष है उसे भी मन्त्रोंके उदाहरण देकर स्पष्ट करूं। इससे वेद भगवान्‌की कथाका रस भी बना रहेगा और उसमें पाईजानेवाली भक्तिकी प्रक्रियाका बोध भी होजावेगा।

सत्य०—ठीक है, महाराज, यही क्रम अच्छा रहेगा।

पंचम खण्ड।

दैवत रहस्यका निदर्शन।

महा० प्यारो, मैंने कल यह इशारा किया था कि जब भक्त दिव्य कविताके नेत्रोंसे अग्नि आदि दिव्य पदार्थों की सत्तापर विचार करता हुआ, ध्यानमें बढ़ता जाता है। तो उसके सामने एक २ पदार्थ अपनी संकुचित भौतिक परिधिसे बाहर निकल कर, अद्भुत, दिव्य शक्तिके रूपमें भासने लगता है। उस का वर्णन उसके भौतिक सौन्दर्यसे आरंभ होकर, अन्य उसी प्रकारकी शक्तियोंसे समता तथा एकता स्थापन करता हुआ समाप्त होता है। भक्त उसी एक पदार्थ-देवताके द्वारा सब पदार्थ-देवताओंमें विराजमान, ईश्वरीय ज्योतिको देखने लगता है। इसी प्रकारके भाव कुछ मंत्रोंसे आज आपके सम्मुख धरूंगा। अब इतनी भूमिकाके पीछे विशेष विस्तारकी भी आवश्यकता नहीं होगी। सरल अर्थसे सब विषयस्पष्ट हो जावेगा।

हां, यदि कोई बात हुई, तो साथ २ खुल जावेगी। कुछ दिन हुए आपने इन्द्र-देवताकी महिमा सुनी थी। आज अग्नि-देवताका ईश्वरीय वर्णन सुनाऊंगा। उनकी परस्पर एकरूपताके समझ लेनेसे अब यह भी स्पष्ट होजाना चाहिये कि क्यों उस समय मैंने इन्द्र-शब्दसे अन्तरिक्ष लोककी किसी केवल भौतिक विभूतिका भाव सर्वथा छोड़कर परमेश्वर परक अर्थ तथा व्याख्यान किया था। अच्छा तो सुनिये,

(१) त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः। त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या ॥११॥ ऋ० २।१।३॥

अर्थः— हे (अग्ने) (त्वं) तुम (सतां) सत्पुरुषोंके (वृषभः) [फलरूप] वृष्टिकर्त्ता (इन्द्रः) इन्द्र (असि) हो; (त्वं) तुम (उरु-गायः) विशाल गतिवाले (नमस्यः) पूजाके योग्य (विष्णुः) विष्णु (असि) हो। हे [अग्ने] (ब्रह्मणस्पते) वेद विद्याके रक्षक! (त्वं) तुम (रयि-विद्) [विद्यारूपी] सम्पत्तिसे युक्त (ब्रह्मा) (असि) हो; हे [अग्ने] (विधर्तः) धारण करनेवाले [प्रभो] (त्वं) तुम (पुरन्ध्या) ब्रह्माण्डरूपी पुरीको धारण करानेवाली, सर्वोत्तम बुद्धिसे (सचसे) युक्त रहते हो ॥११॥

प्यारो, कितना स्पष्ट वर्णन है। अब यह अग्नि भौतिक अग्नि नहीं है। भक्त का ध्यान कहीं और जा टिका है। वह पृथिवीपर बैठा हुआ तीनों लोकमें व्यापक ज्योति, अग्निकी ज्वालाओं द्वारा दर्शन कर रहा है। इन्द्र नामसे पुकारी जानेवाली, भगवान्की

विभूति वहीं पर है। तीनों लोकोंमें व्यापकताके भावका संकेत करने वाला विष्णु वहींपर है। और, न केवल भौतिक विभूतियोंका ही वहां संग्रह होरहा है, वरन् उनके अन्दर रहने वाली सर्व-विद्याओंकी मूल स्रोत रूप, परमाध्यात्मिक, चेतनामयी ज्योति भी वहांपर प्रतीत होरही है। अग्नि ही सरस्वतीका स्वामी, ब्रह्मा है। अग्नि ही समष्टि-बुद्धिका परमाधार है।

सत्य०—तो अग्नि-शब्दका यहाँ शब्दार्थ क्या हुआ ?

महा०-पूर्वकहे प्रकारसे, यहाँ शक्यार्थ तो भौतिक अग्नि है, परन्तु लक्ष्यार्थ उसमें वर्त्तमान, उसके द्वारा प्रकाशमान ईश्वरीय ज्योति है और तात्पर्यार्थ वह स्वयं, सर्वत्र सब देवोंमें द्योतमान्, ज्योतरधीश भगवान् ही समझना चाहिये।

वस्तु०-जिस प्रकार, उस दिनके इन्द्र-शब्दका तात्पर्यार्थ भी यही था।

महा०-बिल्कुल ठीक। अब आगे और सुनिये,

(२) त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः। त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य सम्भुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः॥१२॥ :—४॥

अर्थ :- हे (अग्ने) (त्वं) तुम (धृतव्रीतः) व्रतोंको धारण करने वाले [=स्थिर नीति वाले] (वरुणः) वरुण (राजा) [हो]; (त्वं) तुम (दस्मः) समाप्त करनेवाले (ईड्यः) पूजनीय (मित्रः) मित्र (भवसि) होरहे हो। (यस्य) जिसके [अधीन सब] (संभुजं) उत्तम भोग्य पदार्थ [होता है] [वह] (अर्यमा) (सत्पतिः) सच्चे स्वामी

(त्वं) तुम [हो] हे (देव) (विदथे समाजमें (भाजयुः) [बांटकर] प्राप्त करानेवाले (त्वं) तुम (अंशः) अंश [हो] ॥१५॥

इस प्रकार वरुण, अर्यमा, मित्र और अंशसे स्वरूपकी समानताके आधारपर अभिन्नताका उपचार करके, और शक्तियोंसे संबन्ध आगे फिर दिखाते हैं।

(३) त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे। त्वं वातैररुणैर्यासि शङ्गय स्त्वं पूषा विधतः पासि नु त्मना ॥१३॥ ०—६॥

अर्थः—हे (अग्ने) (त्वं) तुम (महः) महान् (दिवः) द्युलोकके [शासक] (असुरः) बलशाली (रुद्रः) रुद्र [हो]; (त्वं) तुम (मारुतं) मरुतोंका (शर्धः) जल [होते हुए] (पृक्षः) अन्नपर (ईशिषे) शासन करते हो। (त्वं) तुम (शंगयः) कल्याणप्रद घरोंके स्वामी [होते हुए] (अरुणः) लाल (वातैः) वायुओंसे (पासि) चलतेहो; (त्वं) तुम (नु) ही (त्मना) स्वयं (विधतः) पूजकोंके प्रति (पूषा) [होकर] (पासि) रक्षा करने वाले होते हो ॥१३॥

हे अग्निस्वरूप प्रभो! तुम्हीं रुद्र हो, तुम्हीं मरुतोंका संघ हो तुम्हीं अन्धेरीकी लाल, भूरी, मिट्टीसे भरी हुई वायुओंके रूपमें तूफान मचाते हुए भी घरोंकी रक्षा करते हो। तुम्हीं अपने भक्तोंके प्रतिपालक पूषा हो।

(४) त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते त्वं देवः सविता रत्नधा असि। त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे त्वं पायुर्दमे यस्ते ऽविधत्॥१४॥ ०—७॥

अर्थः— हे (अग्ने) (त्वं) तुम (अरं-कृते) तृप्त करनेवालेके प्रति (द्रविणः-दा) धन देने वाले हो; (त्वं) तुम (देवः) देव (सविता) (रत्न-धाः) रत्नोंको धारण करनेवाले हो। (त्वं) तुम (नृपते) हे नरोंके स्वामिन्! (भगः) भग [होते हुए] (वस्वः) ऐश्वर्यपर (ईशिषे) शासन करते हो, (यः) जो (दमे) घरपर (ते) तेरी (अविधत्) पूजा करता है [उसके] (त्वं) तुम (पायुः) रक्षक [हो] ॥१४॥

हे अग्निस्वरूप प्रभो! तुम्हीं सब प्रकार ऐश्वर्य तथा सुख-सामग्रीके सच्चे स्वामी हो। तुम्हीं अपने प्रीति पुञ्ज, प्रेमोपहारी, भक्तवृन्दके सच्चे प्रतिपालक हो। तुम्हीं भग हो, तुम्हीं सविता हो। वे तुमसे और तुम उनसे भिन्न नहीं हो।

(५) त्वमग्ने अदितिर्देव दाशुषे त्वं होत्रा भारती वर्धसे गिरा। त्वमिडा शतहिमासि दक्षसे त्वं वृत्रहा वसुपते सरस्वती ॥१५॥ ०—११॥

अर्थः— (हे) (अग्ने,देव) (त्वं) तुम (दाशुषे) दानशीलकेलिये (अदितिः) देव-माता [हो]; (त्वं) तुम (गिरा) स्तुति द्वारा (भारती) (होत्रा) वाणी [होते हुए] (वर्धसे) वृद्धिको प्राप्त होते हो। (त्वं) तुम (दक्षसे) चतुरताकेलिये (शत-हिमा) सौ सर्दियोंमें रहने वाली (इडा) [हो]; हे (वसु-पते) धन-स्वामिन् (त्वं)तुम (वृत्र-हा) वृत्रोंकी नाशक (सरस्वती) (हो) ॥१५॥

हे अग्निस्वरूप प्रभो! ये भौतिक विभूतिमय देवता सब तेरे प्रकाश स्वरूप हैं। तुम इनकी अदिति, अखण्डनीय, सर्वविकार रहित, माता हो। वाणीमें भी तुम्हारा ही प्रकाश है। भारती,

इडा और सरस्वती तीनों लोकोंको घेरनेवाली, वाणीद्वारा प्रकट होनेवाली, ऐश्वर्यप्रदात्री, भरणशील, पुष्टिकारक, नदीके वेगके समान उत्तरोत्तर बहती रहनेवाली, आन्तरिक, आध्यात्मिक, विद्यामयीज्योतिके बाह्य संकेत हैं। तात्पर्य यह है कि अग्निस्वरूप भगवान् सब प्रकारकी विद्याका अधिष्ठान है। सत्यविद्या तथा उससे जो पदार्थ जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल वही है।

सदा०—महाराज, क्या यह अग्निकी महिमा ही है या वस्तुतः अग्नि इन्द्रादिसे अभिन्न है?

महा०—महिमा भी है और अभेदका प्रकाश भी है?

सत्य०—भगवन्, यह क्योंकर होसकता है?

माया०—हम तो प्रश्नका ही भाव नहीं समझ पाये।

महा०—सदाशिवजी, तो आप पहिले इन्हें अपना आशय समझा लें।

सदा०—महाराज, मेरा कौनसा इतना गहरा भाव है जो मैं इनका गुरु बननेका दम भरूं। पर आपकी आज्ञा है, इसलिये आपके अमृतप्रवाहमें एक क्षणके लिये विघ्नरूप उपस्थित होता हूँ। मायारामजी, महिमा अथवा स्तुति, स्तोत्र एक ही बात है। एक बड़ा व्यक्ति हमारे ऊपर कृपालु है। हम उसे कहते हैं, "आप हमारे माँ बाप हैं"। अब विचारना चाहिये कि यहां हमारा भाव क्या होता है। यहां यह स्पष्ट है कि वस्तुतः वह व्यक्ति न हमारी माता और न हमारा पिता है। सच पूछो, तो एक ही व्यक्ति माता और पिता एक साथ हो ही कैसे सकता है। तो इस लोकोक्तिका आशय यह लिया जाता है कि उस व्यक्तिमें जो माता, पिताका दया,

रक्षादि सामान्य-स्वरूप है, वह हमारे प्रति पाया जाता है। अर्थात् जैसे हमारे माता, पिता हमारे प्रति व्यवहार करते हैं, वैसे ही वह भी करता है। वह हमारा पालक तथा रक्षक है। वह अर्थ सीधा शब्दार्थ नहीं है। यह औपचारिक अथवा गौण अर्थ कहाता है। इसी प्रकार, यहां अग्नि वस्तुतः सविता, इन्द्र, पूषादि नहीं हो सकती। उसका उन सब पदार्थोंसे पृथक् भाव स्पष्ट दिखाई देता है। इस विरोधको दूर करनेका यह उपाय होसकता है कि इन वर्णनोंको अग्निका गुणगान समझलें। इससे सवितादि शब्दोंका शक्यार्थ छोड़कर, उनका सामान्य-स्वरूप अर्थ लिया जावेगा। अर्थात्, अग्नि प्रेरणा तथा प्रकाश में सविताके समान है। बलमें इन्द्रके समान है। प्रश्नके दूसरे भागका तात्पर्य यह है कि कोई प्रक्रिया निकाली जावे जिससे मुख्य कक्षामें ही अग्नि आदि पदार्थोंका अभेद सिद्ध हो सके।

महा०—बहुत ठीक। आपने प्रश्नको खूब खोल दिया है। अब कल जो कुच्छ मैंने सामान्य भूमिकाके तौरपर आपके आगे रखा था, उसको पुनः सामने लाइये। इस प्रश्नका उत्तर उसमें ही मिल जावेगा। वैदिक ऋषि काव्यमर्मवेदी तथा यज्ञ-प्रक्रियानुसारी भगवद्भक्त है। उसके सामने यज्ञ-वेदिकामें प्रज्वलित, प्रचण्ड अग्नि चमक रही है। उसका मन उसके अन्दर कार्य करने वाली, उसे प्रकाश और तेज देने वाली, आधिदैविक अग्निमें है। केवल भौतिक पदार्थका तीनों लोकोंमें संचार असंभव है। परन्तु आधिदैविक दृष्टिमें, भगवद्भक्तको बिजुली और सूर्यमें वही अग्नि दीख पड़ती है। सर्वत्र शान्तिकी व्यापकता और क्रमबद्ध सुन्दरताकी विध-

मानताको अनुभव करता हुआ वह भक्त यही निर्धारित करता है कि द्युलोक, अन्तरिक्षलोक तथा पृथिवीलोकके सब देवताओंमें परस्पर सहयोग तथा प्रीति है । तनिक आगे बढ़कर, उसे निश्चय होने लगता है कि जब इनमें सब शक्तियां आधिदैविक स्वरूपसे सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ हैं, तो इन्हें भिन्न २ समझना ठीक नहीं होगा । वस्तुतः एकही महामहिममयी महादेवताकी सर्वशक्तिमत्ता सर्वव्यापकतादि अद्भुत गुणोंके यह आंशिक प्रकाश हैं, जिन्हें हम तीनों लोकोंके अन्दर बटकर फैले हुए देवता कहरहे हैं । इस परम दृष्टिको पाकर, वह अग्नि आदिको ईश्वरीय संकेत बनाता है। यह उन सबका सामान्यस्वरूप होजाता है । उनका अपना पृथक् आंशिक भाव सामष्टिक भावमें समा जाता है । वे एकही अभिन्न पदार्थके वाचक होजाते हैं । उनका आशय एक होजाता है । अतः यथार्थमें अग्नि तथा सवितादिका अपने वाच्यके दृष्टिकोणसे अभेद होजाता है । परन्तु जहां तक उनके आंशिक स्वरूपका संबन्ध है, जहां तक उनके शक्यार्थ का संबन्ध है और, जहां तक उनके विभक्त आधिदैविक स्वरूपका भी संबन्ध है, वे पृथक् २ रहते हैं । इस अवस्थामें अग्नि सविता कभी नहीं बन सकती । हां गुणसाम्य द्वारा औपचारिक अर्थों का आरोप करदिया जासकता है । तात्पर्य पूर्व कहे प्रकारसे समानताके वर्णनमें होगा । यही उसका स्तोत्र या गुणगान होगा । दोनों दृष्टियां वेदमें साथ साथ चलती हैं अन्तमें जाकर, अविभक्त आधिदैविक आध्यात्मिक, अखण्ड, परम तत्त्वमें लय भी होजाती हैं ।

सदा०—महाराज, इस प्रक्रियाकी यथार्थताका निश्चय कैसे होगा ?

महा०—आप शान्तिसे क्रमबद्ध वर्णन सुनते रहिये। अब तक मैंने आपके सामने विभक्त आधिदैविक विभागका ही कुच्छ निदर्शन रखा है। वह भी केवल अग्निका ही दृष्टान्त लेकर कररहा हूं। इसे कुच्छ और दिखाकर, फिर अन्य देवताओंका भी उदाहरण रखूंगा। आपको अभी मैं यथार्थ अभेदको स्वीकार करनेके लिये बाधित नहीं कर सकता। पर हां, अभी कहे प्रकारसे आप निश्चय रखें कि समाप्ति वहीं होगी। विभक्त आधिदैविक प्रकरणमें भी भौतिक कक्षासे आप बहुत आगे निकल चुके होंगे। अर्थात्, वेदमन्त्रोंका लक्ष्य केवल भौतिक, अचेतनाविष्ट अग्न्यादि पदार्थोंका वर्णन करना है, यह अब आपको मिथ्यावाद प्रतीत होना चाहिये। यहीं भौतिक और आधिदैविकका भेदक भाव है। शनैः शनैः विस्तार अच्छा रहेगा। अभी तो प्रकरणका एक देश ही आपके सामने रखा गया है। कहिये, आगे चलें या यहीं तक रहने दें।

वस्तु०—जैसे आपकी इच्छा हो।

महा०—तो थोड़ा सा और धैर्य करें। अभी आजके खण्डका स्वाभाविक अवसान नहीं आया। कुच्छ और दृष्टान्त सुनिये।

सत्य०—अवश्य, सुनाइये, भगवन्, हम सावधान हैं।

महा०—

(६) मित्रो अग्निर्भवति यत्समिद्धो मित्रो होता वरुणो जातवेदाः। मित्रो अध्वर्युरिषिरो दमूनाःमित्रः सिन्धूनामुत पर्वतानाम् ॥१६॥ ऋ० ३।५।४॥

अर्थः—(यत्) जब (समिद्धः) भले प्रकार प्रदीप्त [होता है, तब]

(अग्निः) अग्नि (मित्रः) मित्र (भवति) होता है; (मित्रः) मित्र [सूर्यका आधिदैविक तत्त्व] (होता) होमशील (वरुणः) वरुण (जात-वेदाः) जातवेद [होता है]। (मित्रः) मित्र (अध्वर्युः) यज्ञ-नायक (इषिरः) प्रेरणशील [दमूनाः) दमनशील [है]; (मित्रः) मित्र (सिन्धूनाम्) सागरोंका (उत) तथा (पर्वतानाम्) पर्वतोंका [अधिष्ठाता है]॥१६॥

यह अग्नि-देवताकी स्तुतिमें मन्त्र गाया गया है। अग्निको मित्र, वरुण, जातवेद नामसे प्रसिद्ध वैदिक देवताओंसे अभिन्न बताकर, उनके अन्दर विराजमान आधिदैविक तत्त्वकी एकताका प्रतिपादन किया है। पूर्व कहे प्रकारसे, विश्वयज्ञके अन्दर सूर्यादि देवता होता, अध्वर्यु आदि नामोंसे प्रसिद्ध ऋत्विजोंके समान कार्य कररहे हैं। यहां अग्निको मित्र अर्थात् सूर्यसे समानता देकर होता, अध्वर्यु, दानशील तथा प्रेरणशील कहा है। सच पूछो, तो मानुष होता और अध्वर्यु आदि दिव्य, विभूतिमय, भगवदंशस्वरूप, सर्वव्यापक होता, अध्वर्यु आदिके प्रतिरूपक अर्थात् छायामात्र हैं। यहां अग्निको मित्र और मित्रको वरुण तथा जातवेद कहकर, कुच्छ आगे चलकर अन्य देवताओंसे एकताको प्रकट करते हैं। सुनिये,

(७) उदु ष्टुतः समिधा यह्वो अद्यौद्वर्ष्मन्दिवो अधि नाभा पृथिव्याः। मित्रो अग्निरीड्यो मातरिश्वा दूतो वक्ष-द्यजथाय देवान्॥ १७॥ ०—९॥

अर्थ:—(उ) और (समिधा) प्रज्वलित इन्धन द्वारा (स्तुतः) पूजित होकर (यह्वः) महान् [अग्नि] (दिवः) द्युलोकके (वर्ष्मन्)

विस्तारमें [तथा] (पृथिव्याः) पृथिवीकी (नाभा, अधि) नाभि [=केन्द्र=यज्ञ–वेदिका] के ऊपर (उत्–अर्थात्) उत्तम रीतिसे प्रकाशमान होता है। (अग्निः) अग्नि (ईड्यः) पूजने योग्य (मित्रः) मित्र (मातरिश्वा) [होता हुआ] (दूतः) दूत [बनकर] (देवान्) देवताओंको (यजथाय) यजन [के फलकी प्राप्ति] के लिये (वक्षत्) लानेवाला है ॥१७॥

प्रिय महाशयो, इस मन्त्रपर विचार करनेसे पूर्व कही दैवत प्रक्रियाकी भिन्न भिन्न कोटियोंका अच्छा परिचय मिल जाता है। इसके आधारपर, विषयको सुबोध बनानेकेलिये मैं कुच्छ विस्तारसे कहता हूँ। केवल भौतिक अग्नि वैदिक भक्त तथा काव्यरस-रञ्जित उपासकके सामने नहीं है। भौतिक अग्नि यज्ञ-साधन बन कर, उसको आन्तरिक, मर्मवेधिनी दृष्टिका सहारा बनरही है। वह उसे प्रदीप्त करता हुआ, उसके अन्तर्गत आधिदैविक, चेतन तत्त्वकी स्तुति तथा पूजा करता है। प्रचण्ड ज्वालाओंके प्रकाशसे यज्ञ-वेदिका व्याप्त होजाती है। यज्ञ ही तो विश्वकी प्रतिष्ठा है। इसलिये यज्ञवेदी ही पृथिवीका केन्द्र-स्थान है वहां बैठा बैठा भगवान्का आराधक, उन प्रकाश-रश्मियोंको यज्ञ-केन्द्रसे निकल निकल पृथिवी और विस्तृत द्युलोकमें फैलतेहुए अनुभव करता है। वह अग्निकी पूजा नहीं कररहा। वह उसमें विराजमान, यज्ञ-पुरुषकी पूजा करता है। वह संकुचित तथा एकदेशी नहीं। वह सर्वदेशी और महान् है। अग्नि उसका ही अब वाचक बनरहा है। इस शब्दका शक्य संकेत, लक्ष्यार्थमें और वह तात्पर्यार्थमें लीन होचुका है। अहह ! वह और आगे बढ़ता है। वह विचित्र

भक्तिरससे आसावित होरहा है । वह अपने इष्टदेव 'अग्नि' की पूजामें और अग्रसर होकर उसीमें 'मित्र' और उसीमें 'मातरिश्वा' को देखरहा है। 'मित्र' प्रतापी सूर्यकी विभूति अर्थात् द्युलोकके प्रकाशका संकेत है । मातरिश्वा मध्यलोकविहारी, वायुदेवताकी महिमाका प्रकाशक शब्द है। अर्थात्, उसकी दृष्टिमें 'अग्नि' मध्य-लोक तथा द्युलोककी दीप्ति तथा तेज, स्फूर्ति और बलका स्रोत प्रतीत होरहा है। मित्रादि देवता उससे भिन्न नहीं हैं । उसीमें हैं, नहीं नहीं वही हैं। धन्य है, वह 'अग्नि' जो इस प्रकार दूतका काम करता हुआ विश्व-यज्ञकी समग्र सम्पादक शक्तियों और विभूतियोंको वहीं उसके मानसिक नेत्रोंके सामने उपस्थित कर रहा है। वे सब देवता अग्निके निमन्त्रणद्वारा वहां आ पहुँचे हैं। वे यज्ञके सद्भक्तिरूप फलका आस्वादन करते हैं । वहां अब केवल अग्नि नहीं, वरन् सब देवता विराजमान होरहे हैं । उस भक्ति-सागरमें भिन्न भिन्न विभूतियोंके दर्शक विचारों तथा भावनाओंकी सरिताएं एकरूप होरही है। अब देवता तीन नहीं, तेंतीस नहीं । अब देवता, उपास्य देवता एक है। उसे अग्नि कहो, मित्र कहो या मातारिश्वा कहो। अब नाम गौण है, भाव मुख्य है । भावरसकी गंगा बहाओ और हृदय-मलको धो डालो।

सदा०—भगवन्, आपने तो नये ही रसका आस्वादन करा दिया है। बार बार मनन करनेपर भी आशंका सी बनीहुई है कि क्या वस्तुतः वेदका तात्पर्य यही है । मेरा भाव यह नहीं है कि आपका वचन युक्तियुक्त या प्रामाणिक नहीं। ना ही मुझे आपकी वाणीमें छलका गन्ध भी प्रतीत होता है । पर यह प्रक्रिया

सर्वथा अश्रुतपूर्व है, इसलिये मन चाहता हुआ भी ग्रहण करनेमें ढीला सा होरहा है।

महा०—कोई भयकी बात नहीं। मैं चाहता तो पूर्व भाष्यकारोंके मतोंको पूर्वपक्ष बनाकर उनका खण्डन करता। पर मैं जानता हूँ कि मेरे सुनने वाले इस क्षेत्रमें नया २ प्रवेश पा रहे हैं। उनमें सत्संगका भाव मुख्य है। इसलिये, केवल अपनी दृष्टिका मण्डन करता हुआ, वेदामृतका पान करता तथा कराता चला जा रहा हूँ। अब आप दो एक दिनमें इतनी सामग्रीसे परिचित करा दिये जावेंगे, कि विना विशेष यत्नके, आपको इस प्रक्रियाके मननमें आनन्द प्रतीत होगा।

सत्य०—महाराज, इससे तो यह पता लगता है कि वैदिकभक्तिका लक्ष्य अनेक नामों द्वारा सूचित होने वाला एक परमदेव ही है।

महा०—हां, बेटा, यही बात तो समर्थित कर रहा हूँ।

सत्य०—पर यह समझमें नहीं आया कि एकदेव पूजासे अनेकदेव पूजा कैसे चल पड़ी। सहस्रों वर्षों से आर्यावर्त्त तथा अन्य देशोंके निवासी भिन्न २ देवताओंके पूजक बन रहे हैं। वेदके अन्दर आये हुए नामोंपर सन्तुष्ट न रहकर, असंख्य नाम और बढ़ा लिये गये हैं। आज प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक नदी, प्रत्येक ग्रह और प्रत्येक नक्षत्रकी अलग २ पूजा होरही है। आज शिवकी पूजा करने वाले विष्णुका नाम लेना भी पाप समझते हैं। आज करोड़ों मनुष्य अपने वीर पुरुषों तथा उपकारी महात्माओंका ही आराधन करना भक्तिका सार समझ रहे हैं। यह लीला कुछ समझमें नहीं आती।

महा० —प्यारे, सचमुच यह वर्तमान चित्र सच्चे भक्तोंको दुःखी करने वाला है। पर मानव इतिहासके चक्रकी वक्र गति कुच्छ ऐसी ही चलती आयी है। वेदकी प्रक्रिया यज्ञकी प्रक्रिया थी। यज्ञ-वेदी विश्वका चित्रस्वरूप थी। पुरोहित तथा ऋत्विज विश्व-विधात्री, दिन रात बलिदान होती हुई शक्तियोंके सूचक थे। केन्द्रिय भाव चरित्रानुकरण द्वारा उन शक्तियोंसे तथा उनके मूल आधिदैविक तत्त्वसे तादात्म्यको पैदा करना था। बाहरसे अन्दर घुसना था और अन्दर से बाहर बढ़ना था। आधिदैविकमें आध्यात्मिक और उसमें पर्यायसे आधिदैविकका दर्शन करना था। यह प्रक्रिया कैसे आरम्भ हुई और इसका विकास कैसे हुआ, यह विषयान्तर है। पर वेद भगवान् इसका पूरा उपदेश करता है, यह कुच्छ आप समझ चुके हैं और कुच्छ आगे जान जावेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं, यह प्रक्रिया अत्यन्त उच्च भाव तथा उत्कृष्टतम बुद्धिका परिचय देती है। पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि इसके इस उत्कर्षमें ही इसके बिगाड़का बीज भी है। साधारण व्यक्ति शीघ्रही कुच्छका कुच्छ समझने लग जाता है। शक्यार्थसे तात्पर्यार्थपर पहुँचना सहज स्वभावसे सिद्ध नहीं होता। उसकेलिये नैसर्गिक निपुणता तथा उत्तम शिक्षाकी आवश्यकता होती है। प्रतीत होता है, उत्तम कोटिके विद्वानोंने शनैः२ भौतिक सहारेको सर्वथा अनावश्यक समझकर, सीधा मानसिक भावना द्वारा अभीष्टसिद्धिका मार्ग पसंद किया। आरण्यकों तथा उपनिषदोंके पाठसे यह बात स्पष्ट प्रमाणित होती है। यज्ञादिके करने करानेसे उनकी रुचि हटती गयी। यह कार्य मध्यम कोटिके साधारण कर्म-

काण्डियोंके हाथमें रह गया। सच्ची वैदिक विद्याके जानने वाले ब्रह्मा न रहे या कमसे कम यज्ञ-वेदी पर बैठने वाले सच्चे ब्रह्मा न रहे। पूर्ण विकासको अप्राप्त, मानव-बुद्धिने ऋषियोंके मर्मको न पाकर, नानादेव पूजाका उलटा भाव समझ लिया। एक बार उलटे मार्गपर चलना ही था, फिर क्या था। लीला बढ़ने लगी। नाना प्रकारका स्वार्थ सिद्ध होने लगा। भिन्न २ देवताओंके मंदिर बने और उनके नामपर नानाविध पाखण्डका प्रचार बढ़ा। देखो, महात्मा बुद्धने इन पाखण्डोंका खण्डन किया। पर मानवी स्वार्थ-लीलाने उसकी मूर्त्तिपूजा चलाकर पाखण्ड-काण्डका कपाट और खोल दिया। ईशुमसीहने एक ईश्वरकी पूजा सिखायी। पर उसके चेलोंने उसकी पूजाका कितना प्रचार किया। मुहम्मद साहिबने एक, अद्वितीय ब्रह्मको नमस्कार करना सिखाया। पर संसारने उसे ब्रह्मके साथ बराबर बनाकर टांक दिया। बेटा, अविद्याकी ही यह सब लीला है। इसका परमौषध सत्यज्ञानका विस्तार ही है। उसे करते कराते रहो। अभी मैं कह रहा था कि 'अग्नि' त्रिलोकीमें वर्त्तमान आधिदैविक विभूतिका वाचक बन कर एकदेव पूजाका संकेत होजाता है। इसीको एक और मन्त्र द्वारा पुष्ट करता हूं। सुनिये;

(८) भुवश्चक्षुर्मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यदृताय वेषि। भुवो अपां नपाज्जातवेदो भुवो दूतो यस्य हव्यं जुजोषः॥१८॥ ऋ० १०।८।५॥

अर्थः-[हे अग्ने, तुम] (महः) महान् (ऋतस्य) धार्मिक कर्म, यज्ञादिके (चक्षुः) नेत्र [=प्रकाशक] (गोपाः) रक्षक (भुवः) हुए हो; (यद्) जब

(ऋताय) जलकेलिये (वेषि) जाते हो [तब] (वरुण:) वरुण (भुव:) होते [=कहाते] हो। हे (जातवेद:) सब पदार्थों के स्वामिन् [तुम] (अपां) जलोंके (नपात्) पौते [भी] (भुव:) होते हो; (यस्य) जिसके (हव्यं) होम किये हुए पदार्थ [=श्रद्धाभाव] को (जुजोष:) पसंद करते हो [उसके प्रति अन्य विभूतिपरक ज्ञानार्थ] (दूत:) दूत (भुव:) होते हो ॥१८॥

पूर्वकहे प्रकारसे 'अग्नि, विश्व-यज्ञका नेत्र अर्थात् सूचक और रक्षक है! प्रतिदिन प्रदीप्त होकर उस चक्रके वेगको बताता रहता है। वरुणादि देवता उससे भिन्न मत समझो। सूर्यकी किरणें पानीकी तलाशमें सर्वत्र विचरती हुई, जलके अधिपति 'वरुण' नामकी विभूतिका नाम पाती हैं। वस्तुत:, जो शक्ति अग्निमें काम कररही है, वही उस वरुणमें भी चमत्कार दिखा रही है। किस प्रकार एक ही शक्तिके भिन्न २ प्रकाश परस्पराश्रित हैं, यह बड़ी सुन्दरतासे अग्निको जलोंका पोता कहकर दर्शाया है। जलोंसे मेघ बनते हैं। और मेघोंसे विद्युद्रूपी अग्निका चमकारा होता है। बहुत सुन्दर स्वाभाविक अतिशयोक्ति है। दूतका भाव पहले भी आचुका है। इस प्रकार, यहांपर भी अग्नि और वरुण, अपांनपात् आदि देवताओंकी परस्पर अभिन्नता तथा कर्मभेदपर आश्रित भिन्ननामताको भली भान्ति प्रकाशित किया गया है। अग्निकी विभूति हमारे नित्यके जीवनमें सबसे अधिक परिचित तथा समीपवर्ती होनेसे, वैदिक भक्तिका केन्द्र बन गयी है। इस बातको वेद भगवान्‌ने स्वयं कह दिया है। सुनिये,

(९) अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते । विशो विशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥१९॥ अथ० ४।२३।१॥

अर्थः—[मैं] (प्रथमस्य) सर्वश्रेष्ठ (प्र-चेतसः) अति विद्वान् (पांच-जन्यस्य) पांचों लोगोंमें व्यापक (अग्नेः) अग्निको (मन्वे) ध्याताहूं (यं) जिसे [लोग] (बहुधा) अनेक प्रकारसे (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं। [हम] (विशः-विशः) घर २ में (प्र-विशिवांसं) प्रविष्ट हुए२ को (ईमहे) प्राप्त होते हैं (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्टसे (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥१९॥

कौनसा घर है जहां अग्निका प्रकाश न होता हो । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा आर्यभिन्न जितनी अनिर्दिष्ट प्रजाएं हैं, उन सबके साथ अग्नि संबन्धित होता है । उसे नाना प्रकारसे प्रदीप्त करते हैं । उसके प्रकट होनेके मार्ग अनेक हैं । हम उसकी पूजा करते हैं । क्या साधारण भौतिक अग्नि की ? नहीं, जिसे कर्मकाण्डो ब्राह्मण यज्ञिय बनाकर, देव-दूत बनाकर, यज्ञ-वेदीपर गार्हपत्यादि कई प्रकारसे प्रतिष्ठित करते हैं । नहीं, हमारा आराध्य देव वह आधिदैविक तत्त्व है जो सर्वश्रेष्ठ तथा अतिविद्वान् और कष्ट-निवारक महाप्रभुकी आंशिक ज्योति है । नहीं, हमारा लक्ष्य वह सम्पूर्ण महाप्रभु है । वही नाना रूपों द्वारा नाना प्रकारसे प्रकट होता है । हम उसे ही दिन रात ध्याते हैं । इस प्रकार भगवद्भक्त भौतिक साधनका अवलम्बन करता हुआ, मन ही मनमें आधि-दैविक और वहांसे आध्यात्मिक परम ज्योति-केन्द्र तक जा पहुँचता

है। अब किस प्रकार वेद भगवान् उस एक परम तत्त्वके जो 'अग्नि' पदका तात्पर्यार्थ है, अनेक नामोंकी ओर अतिस्पष्ट संकेत करता है, एक प्रसिद्ध मन्त्र द्वारा संकेत करके आजका कथन समाप्त करूंगा। आप सबका धैर्य प्रशंसाके योग्य है।

सदा०—महाराज, आपकी दया है। मुझे पहिलेसे सूचना होती, तो कबका इस अमृत-सागरमें स्नान कर चुका होता। जहां वेद भगवान् हमारा जातीय भूषण है और इस कारणसे हमारा मान्य है, वहां आपका वचन-रस इसके स्वाभाविक गौरवको चार चांद लगा रहा है।

सत्य०—महाराज, वह प्रसिद्ध मन्त्र कौनसा है?

महा०—सुनिये। आपको कदाचित् स्मरण ही होगा।

(१०) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥२०॥ ऋ० १।१६४।४६॥

अर्थः—(विप्राः) सिद्धदर्शन, महात्मा (अग्निं) अग्निको [जो कि] (एकं) एक (सत्) सत् [परम सत्, मूल तत्त्व, है] (बहुधा) नाना प्रकार से (इन्द्रं) इन्द्र (मित्रं) मित्र (वरुणं) वरुण (आहुः) कहते हैं [तथा] (यमं) यम [और] (मातरिश्वानं) मातरिश्वा [भी] (वदन्ति) कहते हैं, (अथो) और, इसी प्रकार (आहुः) कहते हैं [कि] (सः) वही (दिव्यः) प्रकाशमान (सुपर्णः) सुपर्ण [और] (गरुत्मान्) गरुत्मान् [है] ॥२०॥

प्यारो, यह अत्यन्त महिमशाली मन्त्र है। पूर्व कही प्रक्रियाका

यह स्पष्ट पुष्टिकारक है। पहिले दिये गये मन्त्रोंमें तथा इसमें विशेष कक्षा-भेद है । जहां उनके पाठके पश्चात् अर्थ-संगति, विशेषण-संगति, प्रकरण-संगति तथा तात्पर्य-संगति अर्थात् समन्वय द्वारा अग्निके शक्यार्थको छोड़कर उसके आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थकी प्रतीति होती है, वहां इसके पाठके साथ ही हम उस द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ कोटिमें जा पहुंचते हैं।

सत्य०—भगवन्, वह चार कोटियां फिर समझा दें ।

महा०—प्यारे, प्रथम कोटि तब आरंभ होती है जब भौतिक भावको गौण करके यज्ञ-साधनताका दिव्य भाव जोड़ा जाता है। विभक्त आधिदैविक तत्त्वके ग्रहणके साथ दूसरी कोटि तथा अन्य विभक्त आधिदैविक तत्त्वोंसे समताके ग्रहणके साथ तीसरी कोटिका सूत्रपात होता है । चतुर्थ कोटि वह है जिसमें अनेक विभक्त आधिदैविक ज्योतियां एक परम, मूल ज्योतिमें लीन होजाती हैं और आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विभाग भी हटकर, सर्वत्र, अखण्डरूपसे विराजमान एक महाप्रभुकी प्रतीति होने लगती है।

वस्तु०—महाराज, इस मन्त्रकी व्याख्यासे इस बातको और स्पष्ट समझना संभव होगा।

महा०—बहुत ठीक, सुनिये। यहां पहिली विचारणीय बात यही प्रतीत होरही है कि अग्निका भौतिक वर्णन नहीं पाया जाता पिछले मन्त्रमें 'जिसे नाना प्रकारसे प्रदीप्त करते हैं' मूलतः प्रथम कोटिका वाक्य था। परन्तु यहां का 'जिसे कहते हैं' दूसरी कोटिका वाक्य है। इसका तात्पर्य यह है कि अग्निमें विभक्त आधिदैविक तत्त्वको पहिचान लिया गया है। झट तीसरी कोटि चल पड़ती है।

वह अग्नि ही इन्द्र आदि नामोंसे पुकारी जाती है । सब आधि-दैविक विभागोंको एकरूप, अविभक्त, मूल तत्त्वमें लीन करते हुए, 'वह एक सत् है' इस वाक्यसे अन्तिम कोटिका प्रदर्शन होरहा है। जिस अग्निके ये भिन्न २ नाम या स्वरूप हैं, वह वस्तुतः परम तत्त्व है जिसने इस विश्वको रचकर धारण किया हुआ है। उसीके प्रशासनमें सूर्यादि लोक, लोकान्तर अपनी २ मर्यादाओंका पालन कररहे हैं। ये सब नाम उसी एक, सद्रूप, अनामके हैं । विज्ञानी पुरुष अग्निसे लेकर सब पदार्थोंमें उसीको देखता हुआ, अन्त-रात्मामें 'वह है' केवल इतना ही अनुभव प्राप्त करके तर जाता है। उसका इस सत्तात्मक अनुभवसे भिन्न या बढ़कर कोई दूसरा वर्णन होना असंभव है। वेद जिस 'अग्नि'के ये सब नाम बताता है, उसे ही वह 'एक सत्' भी बताता है। इससे यह स्पष्ट है कि यह अद्भुत मन्त्र पूर्व कोटियोंमें से छलांग लगाता हुआ उत्तम कोटि तक चला जाता है।

सदा०—महाराज, इस मन्त्रका साधारण अनुवाद तो ऐसे किया जाता है, 'अग्नि' एक होते हुए भी अनेक नामोंसे पुकारा जाता है'। यदि ऐसा मानें, तो आपकी बतायी हुई, परम तत्त्वसे एकता स्थापित करने वाली, चतुर्थ कोटि तो उड़ जाती है। इस अर्थमें कोई आपत्ति है क्या ?

महा०—'सत्' शब्द नपुंसकका रूप है। अग्नि पुंल्लिङ्ग पद है। इन दोनों पदोंका यहां समानाधिकरण नहीं है। नहीं तो 'सन्तं' यह रूप होना चाहिये था।

सदा०—पर महाराज, वेदके अन्दर तो व्याकरणके इतने कड़े

नियम नहीं हैं। नाना प्रकारके विकल्पित रूप मिलते हैं। छन्दका बिचार करते हुए भी व्याकरणको गौण कर दिया जाता है।

महा०—यह बातें ठीक होते हुए भी अगतियोंकी गतिके समान हैं। जहां प्रकरणसे अर्थ स्पष्ट होरहा हो, वहां पदोंका रूप गौण होजाता है। पर साधारण नियमोंका हरएक जगह त्याग न करना चाहिये। नपुंसकमें 'सत्' शब्दका प्रयोग मूल तत्त्वको प्रगट करनेकेलिये वेदसे लेकर आज तक आर्यावर्त्तमें चला आया है। दूसरोंके कहने मात्रसे इस अविच्छिन्न परम्परासे प्राप्त सरस्वती का निरादर न करना चाहिये।

सदा०—पर, महाराज क्या और कोई ऐसा स्थल है जहां इस संशयका प्रवेश ही न होसकता हो?

महा०—मैं क्रमसे चल रहा हूँ। वह स्थल भी है और अपने समयपर आजावेगा। पर यह मत समझो कि यहां भी किसी संशयका अवसर है। सभी भाष्यकारोंने इस मन्त्रके आधारपर वैदिक देवताओंकी एकताको स्वीकार किया है। कमसे कम तीसरी कोटि तक तो सबने इसका भाव ग्रहण किया है।

सदा०—महाराज, इसमें भी तो शंका होसकती है?

महा०—हां, कहिये।

सदा०—जैसे किसी राजाकी स्तुति करते हुए लोग कह देते हैं, 'आप साक्षात् मर्यादा पुरुषोत्तम, रामचन्द्र हो; आप धर्मपुत्र युधिष्ठिर हो; आप दानवीर कर्ण हो' इत्यादि, वैसे ही यहांपर भी अग्निकी औपचारिक स्तुति क्यों न समझी जावे! वायुको मातरिश्वा कहते हैं क्योंकि वह अपनी माता अर्थात् आकाशमें

जीवन धारण करता है। अग्निको भी स्तुतिके प्रयोजनसे गौणरूपसे मातरिश्वा कह दिया गया हो, क्योंकि वह भी अपनी माता अर्थात् अरणि में प्राण धारण करता है। इसी प्रकार दूसरे शब्दोंका भी उपमामें पर्यवसान होसकता है।

महा०—मैं आपके विचारको सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। वास्तवमें दूसरी तथा तीसरी कोटियोंकी नियामक चौथी कोटि है। यदि यह हमारे मनमें मत स्थिर होजावे कि वेद इन नामों द्वारा परम, एक, सत्का प्रतिपादन करसकता है, तो फिर हम उसके तथा केवल भौतिक तथा विभक्त आधिदैविकके बीचमें कत्ताबन्धन न अखरनेवाली रीतिसे कर सकेंगे। अतः, इस प्रश्नका उत्तर आपकी पहिली शंकाके सम्पूर्ण समाधानके साथ जुड़ा हुआ है। उसपर जो कुच्छ मैंने कहा है, उसका आप पुनः पुनः मनन करें। उसके मनमें बैठते ही, इस बातका कि यह औपचारिक स्तोत्र नहीं है, वरन् यथार्थ एकताकी स्थापना है, निश्चय हो जावेगा। अतः मैं आज यहां ही इस प्रसंगको छोड़ देता हूँ। आगेके वर्णनसे पूर्वकहे भावोंकी पूरी पुष्टि होजानेपर, अन्तमें फिर आपके इन संदेहोंकी अन्तिम पर्यालोचना करूँगा। शनैः २ बढ़ना चाहिये।

सदा०—बहुत ठीक महाराज।

षष्ठखण्ड ।

महाप्रभु सविताकी महिमा ।

सत्य०—महाराज, आपने 'अग्नि'-महाप्रभु का निदर्शन समझाते हुए यह कहा था कि अधिक परिचित, समीपवर्ती तथा यज्ञ-साधनके तौर पर उपयोगी होनेसे वैदिक भक्तिने अग्निको ही अपने प्रौढ विकासकेलिये उत्तम सोपान समझा।

महा०—हाँ, बेटा, यथार्थ है । वेदमें अग्निके सूक्त सबसे अधिक हैं । इसमें यही पूर्व निर्दिष्ट कारण प्रतीत होता है।

सत्य०—पर और भी इसी प्रकारकी शक्ति विद्यमान हैं ? दिनको सूर्यका प्रखर प्रकाश किसे नहीं तपाता ? रात्रिको चन्द्रका मधुर विलास किसे नहीं भाता ? तारागणका निशीथ समयका नाच वाह वाह होता है। वर्षा ऋतुके बादलकी गरज़, बिजलीकी चमक और कड़क और छमाछम धाराओंका बरसना निदाघ-दग्ध भूतलके जिगरको शान्त कर देते हैं। आपने जो भक्तिविकासकी प्रक्रिया बांधी है, वह इन विभूतियोंके द्वारा भी तो सिद्ध होसकनी चाहिये ? अतः वेदको इनका भी उपयोग करना चाहिये था ?

महा०-बेटा, क्या तुम्हें पता नहीं, वेदने आधिदैविक प्रक्रियाका विस्तार प्रचण्ड विभूतियों तक ही संकुचित न रखकर, तीनों लोकोंके पदार्थ-सर्वस्व तक फैला दिया है । कौनसा ऐसा पदार्थ है

जो भगवान्‌की आन्तरिक सत्ताकी सूचना नहीं देरहा ? सुननेवाले चाहियें। देखनेवाले चाहियें। यह सुनने और देखनेकी शक्ति अन्य सब पदार्थों के स्वरूपसे इतनी शीघ्र जागृत नहीं होती, जितनी कि यह विशेष विभूतियोंके प्रभावसे प्रभावित हो पड़ती है। इसी हेतुसे वैदिक भक्तिके जगानेके लिये तीन लोकोंकी और उनमें तीन मुख्य देवताओंकी कल्पना की गई है। पृथिवीपर अग्नि मुख्य देवता है। अन्तरिक्षमें इन्द्र और द्युलोकमें सूर्य मुख्य देवता माने गये हैं। इनके साथ तीनों लोकोंमें और असंख्य देवता हैं और समझे जा सकते हैं। इन तीनोंके भी अनेक, परस्पर-भिन्न, महत्त्वपूर्ण स्वरूप हैं, जिन्हें पृथक् पृथक् देवताके रूपमें उपयुक्त किया जासकता है और वेदमें किया भी है।

सत्य०— तो महाराज जैसे 'अग्नि' का निदर्शन आपने कराया है, वैसे ही कम से कम एक और दृष्टान्तको लेकर इस परम गंभीर विषयको खोलनेकी कृपा करें।

वस्तु०—हां, महाराज, यही ठीक होगा।

महा०—मैंने पहिलेसे ही, आजके लिये 'सविता' का निदर्शन सोच रखा है। 'सविता' द्युलोकका प्रकाशात्मक, प्रेरणात्मक देवता है। आधिदैविक दृष्टिसे, सूर्यसे अभिन्न होता हुआ भी भिन्न स्वरूपप्रदर्शन द्वारा स्वतन्त्र देवता है। इसके वर्णन-प्रकारमें भी आप उसी प्रक्रियाका परिचय पावेंगे। अर्थात् भौतिक स्वरूपका चित्रण विभक्त आधिदैविकमें और वह अविभक्त आधिदैविकमें क्रमशः लीन होता हुआ, सर्वत्र व्यापक, सर्वज्योति, सर्वाधार, परब्रह्ममें समाप्त होगा। अच्छा, तो अब आरम्भ करता हूं।

(१) युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ २१ ॥ ऋ० ५।८१।१॥

अर्थः—(विप्रस्य) सर्वत्र व्यापक (बृहतः) महान् (विपश्चितः) परम विद्वान् [सविता–महाप्रभु] के (विप्राः) पहुंचवाले [=उपासक] (मनः) मन (युञ्जते) जोड़ते हैं (उत) और (धियः) ध्यान-धाराओंको (युञ्जते) जोड़ते हैं [=लक्ष्यपर योगयुक्त होकर समाहित होते हैं]। [वह] (एकः) एक (इत्) ही (वयुन-विद्) बुनतको जाननेवाला (होत्राः) ग्रहण करने योग्य [कर्मादि] का (वि-दधे) विधान करता है; (सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (परि-स्तुतिः) पूरी स्तुति (मही) बहुत बड़ी है [उसका गाया जा सकना संभव नहीं] ॥ २१ ॥

इस मन्त्रमें भौतिक स्वरूप आधिदैविक प्रकाशसे सर्वथा अभिभूत होचुका है। भक्तजन, योगी लोग, सच्चे उपासक जिस देवताकी आराधनाके लिये मन और बुद्धि द्वारा प्रयत्न करते हैं, वह परम विद्वान् तथा सर्वत्र व्यापक है। वह केवल भौतिक सविताके मण्डलमें संकुचित नहीं। ज्यों २ वे ध्यान लगाते हैं, त्यों २ उनके अन्दर यह विश्वास बढ़ता जाता है कि इस समस्त विश्वके पटकी बुनतको वही 'सविता' महाप्रभु ठीक २ जानता है। प्रत्येक पदार्थ इस विशाल पटमें तन्तुओंके सदृश है। यजमान भी तन्तु है, उसके ऋत्विज भी तन्तु हैं। राजा भी तन्तु है, उसके सचिवगण और प्रजा-मण्डल भी तन्तु हैं। यह विचित्र विश्व-पटमें कौनसी

तन्तु कहां आनी चाहिये, यह मैं नहीं जानता, तुम नहीं जानते, ऋषि नहीं जानते, मुनि नहीं जानते, भगवान् जानता है और केवल वही एक भगवान् जानता है। वह भगवान् 'सविता' है। उसे केवल भौतिक सूर्य तक सीमित मत समझो। वह इस सूर्यका प्रेरक-स्वरूप है। वह उसका आन्तरिक आधिदैविक, चेतन तत्त्व है। वह सर्वत्र व्यापक आधिदैविक चेतन तत्त्व है। वह आध्यात्मिक, शुद्ध, निरञ्जन, अखण्ड, एकरस ब्रह्म है। वेद सच कहता है, उसकी स्तुति पूरी कौन करसकता है? शरीरके असंख्य रोम यदि जिह्वाओंका रूप भी धारण करलें, तो भी उसके स्वरूपका वाचिक प्रकाश असंभव है। इतना विस्तार ध्यानमें लाना अति-कठिन है। झट दूसरा मन्त्र भौतिक सविता विभक्त आधिदैविक सविताकी परिधिमें ले आता है। सुनिये,

(२) विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योनुप्रयाण-मुषसो विराजति ॥ २२ ॥ ०—२॥

अर्थः—(कविः) सूक्ष्मदर्शी (वरेण्यः) वरने योग्य (सविता) (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपोंको (प्रति-मुञ्चते) अपने साथ जोड़ता है; (द्वि-पदे) दो पांव वालेकेलिये [तथा] (चतुष्पदे) चार पांववालेके लिये (भद्रं) कल्याणको (प्र-असावीत्) प्रेरित करता है। (नाकं) द्युलोकको (वि-अख्यत) खूब देखता [=प्रकाशित करता] है; (उषसः) उषाके (प्रयाणं) जानेके (अनु) पीछे (वि-राजति) विराजता है ॥ २२ ॥

भौतिक अंशमें सविता सूर्यकी विशेष प्रेरणात्मक महिमाका ही पृथक् नाम है। जो कुच्छ दीख पड़ता है, उसीके प्रकाशसे दीख पड़ता है। पदार्थों के समस्तरूप उसीकी दात हैं। मनुष्यों, पक्षियों और पशुओंके भौतिक जीवनका वही मूल आधार है। द्युलोकका प्रकाशक वही है। उषा, मानो, उसका ढण्ढोरा पीटकर चली जाती है और वह अपने सिंहासनपर विराजमान होजाता है।

सदा०—महाराज, यहां तो सारा वर्णन भौतिक ही प्रतीत होता है। पर आपकी प्रक्रियानुसार केवल भौतिक वाद तो भक्तिकी प्रथम कोटिसे भी नीचेका पड़ाव है।

महा०—(प्रसन्न होकर) तनिक शब्दोंके प्रयोगका विचार करो। सविताके साथ कवि अर्थात् सूक्ष्मदर्शी, विद्वान्‌का विशेषण लगा हुआ है। यही उसकी विभक्त आधिदैविक कोटिका सूचक लिंग है। यह जड़ सूर्य क्या जानता है कि भद्र क्या है और अभद्र क्या है ? धधकती हुई भट्टी लोहे और फौलाद में अन्तर क्योंकर जान सकती है ? यह उसको फूंकने वाला लोहार और यह भौतिक सविताका आधिदैविक, चेतन, नियामक जानता है कि किस पदार्थका क्या भाव तथा दर्जा है। अतः, यह केवल भौतिक सविताका ही वर्णन न समझना चाहिये। हां, उसके द्वारा उसमें व्यापक आधिदैविक, चेतन प्रभुकी कीर्त्ति को ही समझना ठीक होगा। इसी प्रकार आगे भी देखिएगा,

(३) यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा। यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना॥ २३॥ ०—३॥

अर्थः—(यस्य) जिस (देवस्य) देवके (प्रयाणं) गमन [तथा] (महिमानं) महत्त्वके (अनु) पीछे (अन्ये) दूसरे (इत्) सब (देवाः) देवता (ओजसा) ओजसे [युक्त होकर] (ययुः) चलते हैं। (यः) जो [अपनी] (महित्वना) महिमासे (पार्थिवानि) विशाल, विस्तृत (रजांसि) लोकोंको (विममे) मापता है [=उनमें व्यापक होजाता है]; (सः) वह (एतशः) गमनशील (देवः) देवता (सविता) [है]॥ २३॥

इस मन्त्र द्वारा भक्तिकी उत्तर कोटिका दर्शन आरम्भ होजाता है। 'सविता' केवल विभक्त आधिदैविक तत्त्व न रहकर अविभक्त आधिदैविक तत्त्व होकर, अन्य सब विभूतिमय पदार्थों का नियमन तथा शासन करता है। कौनसा लोक है, जहां उसकी पहुंच न हो! वह सर्वत्र व्यापक आधिदैविक ज्योतिःस्वरूप 'सविता' हम सबका उपास्य है। अब दूसरेविभक्त आधिदैविक तत्त्वोंसे सविताकी एकता दिखाते हैं।

(४) उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि। उत रात्रिमुभयतः परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः॥२४॥ ०—४॥

अर्थः—(उत) तथा हे (सवितः) [आप] (त्रीणि) तीनों (रोचना) द्युलोकोंको (यासि) प्राप्त होरहे हो; (उत) और (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिभिः) किरणोंसे (सम्-उच्यसि) जुड़ रहे हो। (उत) तथा (रात्रिं) रातको (उभयतः) दोनों ओरोंसे (परि-ईयसे) छू रहेहो; (उत) तथा हे (देव) (धर्मभिः) धारण-क्रियाओं

द्वारा (मित्रः) मित्र (भवसि) बन रहेहो ॥२४॥

सदा०—भगवन्, द्युलोक तीन कौनसे हैं, जहां सविताका प्रकाश होरहा है ?

महा०—बेटा, जैसे तीन लोकोंकी बांट कल्पित है, वैसे ही एक२ लोकके विस्तारको दिखानेके लिये, उसके विभागोंकी कल्पना की गयी है। वास्तवमें तो ब्रह्माण्ड समष्टिभावसे एक ही पदार्थ है और व्यष्टिभावसे अनन्त है। आओ, द्युलोकके विस्तारपर एक टक देखें तो सही। रात्रिके समय द्युलोकका रमणीक दृश्य तीन विभागोंमें विभक्त किया जासकता है। लगभग तीस, चालीस ग्रह और उपग्रह तो साक्षात् हमारे सूर्यकी ही पृथिवीकी तरह प्रजा हैं। यद्यपि हम उन्हें दूसरे तारागणसे विशेषरूपसे पृथक् नहीं देखते, तो भी ज्योतिषके जानने वाले, दूरवीक्षण यन्त्रों द्वारा इस सूर्यके जगत्को शेष सृष्टिसे समीपवर्त्ती और अलग देखते हैं। यह तो हुआ प्रथम द्युलोक, अर्थात् हमारा अपना सौर जगत्। शेष असंख्यात नक्षत्रों और तारागणको जो पृथक् २ दीख पड़ते हैं, दूसरा द्युलोक कह सकते हैं। उनसे भी परे असंख्यात नक्षत्र विद्यमान हैं। पर हम उन्हें अलग २ नहीं देख सकते। शायद कभी भी नहीं देख पावेंगे। उनकी मिश्रित ज्योति ही स्वर्गंगा कहलाती है। बस, वही दूधकी धारा उनका संकेत है। वे बहुत दूर हैं। उन्हें तीसरा द्युलोक समझो।

वस्तु०—महाराज, यह सविता तो केवल एक द्युलोक तक ही रह जाता है। इसकी तीनोंमें व्यापकता किस तरहसे सिद्ध होती है ?

महा०—प्यारे, भौतिक कोटिसे आगे बढ़ो। आधिदैविक कोटिके विभक्त खण्डसे भी आगे बढ़ो। अब 'सविता' महाप्रभु अविभक्त आधिदैविक ज्योतिके स्वरूपमें भासने लगेगा। उसका प्रकाश सर्वत्र चराचर संसारमें फैल रहा है।

सदा०—यह प्रक्रिया तो नयी ही सुनी है। पर इससे व्याख्या बड़ी सरल और प्रभावपूर्ण होजाती है।

महा०—और, प्यारो, मन्त्रके शेष भागमें 'सूर्य' तथा 'मित्र'के साथ 'सविता'की एकताको स्पष्ट कह दिया गया है। विभक्त आधिदैविक कोटिमें ये सब पृथक् २ चेतन तत्त्व हैं। पर अविभक्त कोटिमें सब एक ही महाप्रभुके अंग बन जाते हैं। अतः सविता ही सूर्यकी रश्मियों द्वारा अपना प्रकाश करता है। सविता ही प्रभातके समय तथा प्रदोषके समय रात्रिसे जुड़ता है। सविता ही मित्रके रूपमें जगत्को धारण करता है। सविता, सूर्य और मित्र एक ही शक्तिके तीन अलग २ नाम हैं। नामभेद होते हुए भी वाच्यका अभेद है। पर स्मरण रखो, यह अभेद वैदिक प्रक्रियाके अनुसार विभक्त आधिदैविक कोटिसे आगे बढ़कर ही प्रतीत होता है। जहां तक विभक्त विभूतिदर्शनका संबंध है, सब देवता पृथक् २ हैं। अगले मन्त्रमें भी इसी प्रकार अविभक्त आधिदैविक कोटिका प्रकरण है। 'सविता' और 'पूषा'की परस्पर एकताको बतलाते हुए, 'सविता' महाप्रभुको जगन्नियन्ता कहा है। इस सूक्तको अब यहीं छोड़कर, 'सविता-महाप्रभुकी अविभक्त-आधिदैविक कोटिकी अद्भुत महिमाको अथर्ववेद के एक प्रकरणसे सुनाना चाहता हूँ। पर वह प्रकरण लंबा है, यद्यपि बड़ा सरल है। मेरा विचार है, कलका सारा समय उसीकी भेण्ट किया जावे।

सप्तम खण्ड ।

अविभक्त आधिदैविक "सविता" ।

महा०—आज मैंने जिन मन्त्रोंको आपके सामने "सविता" की अविभक्त आधिदैविक ज्योतिका वर्णन करनेकेलिये रखना है, वे अथर्ववेदमें से हैं । तेरहवें काण्डके चौथे सूक्तके अन्तर्गत, एक ही विषयकी अनुवृत्तिके कारण आपसमें जुड़ेहुए, छः 'पर्याय-सूक्त' हैं । मैं यत्न करूंगा कि उन सबको क्रमसे आपके सामने रख दूँ । भाषा सरल है, शब्द परिचित हैं और विषयकी व्याख्या पूर्व दिनोंमें की जा चुकी है । आज एक प्रकार से पुनरावृत्ति हो जावेगी । तो मैं आरम्भ करता हूं ।

(१) स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत् ॥२५॥

अथ० १३।४।१॥

अर्थ :—[वह देखो] (सः) वह (सविता) (स्वः) सुगतिवाले (दिवः) द्युलोकके (पृष्ठे) तलपर (अव-चाकशत्) भले प्रकार प्रकाशमान होता हुआ (एति) आता है ॥२५॥

इन शब्दोंसे उपासकका ध्यान आकर्षित किया जाता है । अब वह पूछता है, "कौन आता है"? क्या यह भौतिक सविता उपास्यके रूपमें संकेत किया जाने लगा है ? नहीं, यह तो,

(२) रश्मिभि र्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥२६॥०—२॥

अर्थः—(रश्मिभिः) किरणोंसे (आ-भृतं) परिपूरित (नभः) गगनपर [करणों द्वारा] (आवृतः) ढका हुआ (महेन्द्रः) महेन्द्र (एति) आता है ॥२६॥

इसे साधारण भौतिक सविता मत समझो। केवल सुगम मार्गको लक्ष्यमें रखकर, इस रश्मिजालसे चमकते हुए गगनप्रकाशक सविताको मनके सामने लाओ। बस, भौतिक अंश अभी आधि-दैविकमें लीन होजाता है। यह 'सविता' आधिदैविक प्रतीति द्वारा विभक्तसे अविभक्त होता हुआ, शेष सभी विभक्त विभूतियोंका आश्रय तथा उनसे एक होजाता है। इसलिये आगे कहते हैं।

(३) स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ॥२७॥
०—३॥

अर्थ :—(सः) वह धाता है; (सः) वह विधर्ता है; (सः) वह नभः) आकाशमें (उत्-श्रितं) ऊपर आश्रित (वायु) है ॥२७॥

(४) सोर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥२८॥
०—४॥

अर्थः—(अर्यमा) (सः) वही है (वरुणः) वरुण (सः) वही है (रुद्रः) रुद्र (सः) वही है [और] (महादेवः) महादेव (सः) वही है ॥२८॥

(५) सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ॥२९॥
०—५॥

अर्थः (सः) वह (अग्निः) अग्नि है (सः) वह (उ) ही (सूर्यः) सूर्य है (उ) और (सः) वह (एव) ही (महायमः) महायम है ॥२९॥

(६) तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश ॥३०॥
०—६॥

अर्थः—(तं) उसके (दश) दस (युताः) मिले हुए (वत्साः) बच्चे (एक-शीर्षाणः) एक सिर वाले (उप) समीपवर्ती होकर (तिष्ठन्ति) रहते हैं ॥३०॥

अभी परिगणित धाता, विधर्ता आदि दस आधिदैविक ज्योतियाँ उस महाज्योतिके अन्दर मिलकर रहती हैं। उन सबका वह एक सिर है। वहींसे उनका विकास बाहिरको होता है। अतः उन्हें उसके 'वत्स'=बच्चे कहा है। वाह! विभक्त दृष्टिसे सब देवता पृथक् २ हैं। एककी अविभक्त दृष्टिसे शेष सब उसके भाग बन जाते हैं। उसी दृष्टिके विस्तारसे वे उसके स्वरूप भी बन जाते हैं बस, उस दृष्टिकी प्राप्तिके साथ ही सकल ब्रह्माण्डमें एक आधिदैविक महादेवको व्यापकता भासने लगती है। अन्धेरा दूर होजाता है। ज्ञान-भानुका उदय होकर एक जगदीश्वरके चरणोंमें भक्ति-प्रवण चित्त विनम्र होजाता है। उस परमपिताकी सब दैवत, मानुष प्रजाएं,

(७) पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति ॥३१॥
०—७॥

अर्थ :—(पश्चात्) पीछे (प्राञ्चः) आगे (आ) सब ओर [अपने आपको] (तन्वन्ति) फैला देती हैं (यद्) जब [सविता] (उदेति) उदय होता है [और] (वि-भासति) विशेषरूपसे भासमान होता है ॥३१॥

जैसे सन्तान माताको सब ओरसे लिपट जाती है वैसे ही 'सविता'—महाप्रभुके अविभक्त अर्थात् अखण्ड आधिदैविक स्वरूपके प्रकाश होनेपर सब भक्तवर्ग उसकी ओर सापेक्ष नेत्रोंसे देखने लगजाते हैं। वे विश्व-धारणाका परम आधार उसे जानने लगते हैं। जगत्की अगम्य गतिका विधारक उसे देखने लगते हैं। उसकी भद्रमयी भावनापर अपने आपको निर्भर करके निश्चिन्त होजाते हैं। एक बार उस द्वारको देखकर फिर किसी अन्य द्वारका कभी मार्ग नहीं पूछते।

(८) तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः ॥३२॥

०—८॥

अर्थः—(एषः) यह [सामने उपस्थित] (मारुतः) वायुओंका (गणः) वर्ग (तस्य) उसके [अधीन है] (सः) वह [वायु-वर्ग] (शिक्याकृतः) 'छिक्के' की तरह लटका हुआ (एति) चलता है ॥ ३२ ॥

विद्याभिमानी मस्तक समझता है कि प्रादेशिक ताप-भेदके आधार पर वायु-वर्ग आकाशमें घूमता है। भक्ति-सुहित हृदय हंसता हुआ मूल कारणकी ओर संकेत करता हुआ कहता है कि नहीं, उसी परमाधारकी नियम-डोरियोंसे लटका हुआ वायुवर्ग घूमता है जैसे 'छिक्का' डोरियों द्वारा वायुमें लटकता है। स्थूल आंख 'छिक्के' को निराधार नहीं कहती। वह झट डोरी और तागेको प्रत्यक्ष करलेती है। विज्ञानकी सूक्ष्म आंख ताप-नियमकी परोक्ष डोरीको प्रत्यक्ष कर लेती है। सच्चे भक्तकी सूक्ष्मतर आंख उसके

भी परमाधार, जगदीश्वरके नियमोंकी अति परोक्ष डोरीको प्रत्यक्ष करके, स्वयं भी उसीके सहारे हिलोरे खाने लग जाती है। धन्य है, सद्भक्तिका सिद्धाञ्जन, जो इतना सूक्ष्म दर्शन प्रदान करता है! अतः पुनः स्मरण करो।

(९) रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥३३॥ ०–९॥

अर्थः—[ऊपर मन्त्र, २, की तरह] प्रकाश पुञ्जसे ढका हुआ महेन्द्र किरण–पूरित गगनतलपर आता है ॥३३॥

भक्तजनो, वह गगनतल हमारा हृदय है। ज्ञानके प्रकाशमें भक्तिके मार्गको ढूण्ढो। पर केवल मस्तक तक दौड़की सीमा मत बनाओ। स्मरण रखो, मस्तकके प्रकाशमें जो मार्ग मिले, उसकी समाप्ति हृदयाकाशमें प्रकाशावृत 'महेन्द्र' के उदयमें होनी चाहिये। यही ज्ञान और उपासनाके महासागरोंका 'मेल' है जो कर्म-सेतुके द्वारा सिद्ध होसकता है।

(१०) तस्येमे नवकोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥३४॥ ०–१०॥

अर्थः—(इमे) ये (विष्टम्भाः) आधारभूत (नवधा) नौ विभागों द्वारा (हिताः) रखे हुए (नव) नौ (कोशाः) कोश (तस्य) उसके [अधीन हैं] ॥३४॥

प्यारो, कल मैंने आपके सामने तीन द्युलोकोंका वर्णन किया था। उसी प्रकारकी कल्पनाओं द्वारा तीनों लोकोंके नौ लोक हो जावेंगे। उन्हें सब प्राणियों तथा शेष पदार्थोंके आधार-स्वरूप होनेके कारण कोश कहा है। अर्थात्, काल्पनिकरूपसे यह नौ

विभागोंमें विभक्त, ब्रह्माण्ड उसी एक, अखण्ड, 'सविता' महाप्रभुके शासनमें है। एक परमाणु तक भी उससे बाहर नहीं रहसकता। उसकी सर्वशक्तिमत्ताका प्रदर्शन कराकर, सर्वव्यापकताकी ओर संकेत करते हैं॥

(११) स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥३५॥ ०—११॥

अर्थः—(सः) वह (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके [कल्याणके] लिये (वि-पश्यति) निरीक्षण करता है; [वह] (यत्) जो (प्राणति) प्राण लेता है (च) और (यत्) जो (न) नहीं [लेता, उन सब चराचरको देखता है]॥३५॥

इस मन्त्रने दो बातें एक साथ बता दी हैं। महाप्रभुकी आंखके सामने सारा चराचर जगत् सर्वथा प्रत्यक्ष होकर वर्तमान होता है। वह हम सबके कर्मों का निरीक्षण करता हुआ, जिस २ फलसे, ज़ाति, आयु या भोगसे हमारा योग करता है, उसमें हमारा कल्याण ही सदा अभिप्रेत होता है। अतः भगवान्‌की उस कल्याणमयी इच्छापर जो जन अपने आपको आश्रित करते हुए यथाशक्ति सक्तिरहित होकर कर्मपरायण रहते हैं, उन्हें शास्त्रने परमयोगी कहकर मानकी दृष्टिसे देखा है।

(१२) तमिदं निगतं सहः स एष एकवृदेक एव ॥३६॥ ०—१२॥

अर्थः—(इदं) यह [पूर्व-कथित] (सहः) शासन-सामर्थ्य (तं) उसमें (नि-गतं) पूर्ण [होरहा है]; (सः) वह (एषः) यह (एकः)

एक [है]; (एक-वृत्) एक, अखण्ड, अमिश्रित, विशुद्ध रूपसे वर्त्तमान [है]; (एकः) एक (एव) ही [है] ॥३६॥

सारा जगत् उसका है। वह सबका शासक, सबका पालक, सबका धारक और सबके सुखार्थ सबका निरीक्षक है। यह उसका आदर्श अनुपम शासन-बल सिवाय उसके और कहीं नहीं हो सकता। सब दैवत-मानुष विभूतिमय पदार्थ उसीके आंशिक स्वरूप हैं। पर वस्तुतः वह अखण्ड है। उसके अंश कहां? वह विशुद्ध तथा केवल-स्वरूप है। वह एक है, वह एक है। उसीकी उपासना करो। उसके कल्पित अंशोंमें उसे ही देखो। उसके जगत्के विस्तारमें उसे ही देखो। बढ़ो, बढ़ो, इन प्रादेशिक दृष्टियोंसे आगे निकलो। उस महाप्रभुकी शरण पकड़ो, जो सब प्रदेशोंमें एक समान शासन कररहा है यह 'सविता' उसका संकेत है। अब यह भौतिक तेजोगोलका वाचक नहीं रहा। इसका शक्यार्थ परमार्थमें लीन होचुका है क्योंकि, अब यह ध्वनि उस शक्तिकी वाचक होचुकी है, जिसमें शेष देवताओंके समान यह भौतिक सविता भी अपनी स्वतन्त्र सत्ताको लीन कर चुका है। अब इन सबकी महिमा अपनी महिमा नहीं रही। अब ये उसके कारण बड़े प्रतापी हैं जिसमें ये एकाकार होरहे हैं। जैसे अगले मन्त्र द्वारा कहा भी है,

(१३) एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥३७॥
०—१३॥

अर्थः—(एते) ये (देवाः) देवता (अस्मिन्) इस [पूर्व-निरू-

पित, महाप्रभु] में (एक-वृतः) एक जान (भवन्ति) होजाते हैं ॥३७॥

प्यारो, जैसे समुद्रमें पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, सब ओरसे नदी, नालों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकारके पानी आकर अपने नामों और रूपोंको छोड़कर, समुद्रके ही नामको और उसीके रूपको धारण कर लेते हैं, वैसे ही यह प्रादेशिक या विभक्त अथवा अखण्ड आधिदैविक, चेतनस्वरूप, सूर्यादि देवता उस चेतनताके महासागरमें मिलकर अपनी परमवाच्यताको तथा परमार्थताको प्राप्त होजाते हैं। वस्तुतः मनुष्यकी बुद्धि समझने, समझानेकेलिये विश्व-व्यापक चेतनसागरके प्रदेशरूप देवताओंकी कल्पना करती है। जब संकेत २ के द्वारा वह उस परम तत्त्वके ग्रहणकेलिये तय्यार होजाती है, तो अपने ही द्वारा तने हुए कल्पित दैवत जालको छिन्न भिन्न करदेती है, अथवा तीव्र भक्तिकी ज्वाला-ओंसे उसे पिघलाकर, एक, अखण्ड, परम तत्त्वमें विलीन कर देती है। यहां पहिला पर्याय-सूक्त समाप्त होता है। जो कहना था, वह कह दिया गया है। शेष भाग, यद्यपि पर्याप्त लंबा है, इसीका व्याख्यान है। नई बात न कोई है, और न कोई हो ही सकती है। एक ही बातको भिन्न भिन्न पर्यायोंसे शेष पांच 'पर्यायों' द्वारा कहा है। बीच बीचमें सद्भक्तिका कल्याणमय फल बताया है और अन्तमें धारणाके कुच्छ संकल्प दिये हैं। क्या इच्छा है ? आगे चलें या बस यहां ही रहने दें ?

सदा०—आजका कार्य तो बड़ा सरल रहा है। आपने भूमिका-भित्ति ऐसी पक्की बांध दी है कि अब किसी प्रश्नकी प्रेरणा ही नहीं

होती है । मेरे विचारमें तो यह शेष सारे 'पर्याय' आज ही कह डालें, तो भी हम न थकेंगे ।

सत्य०—मेरी भी ऐसी ही धारणा है ।

महा०—बहुत ठीक है । आज उन्हें समाप्त ही करना चाहिये । अब दूसरे 'पर्याय'का आरम्भ करते हैं ।

(१४) कीर्त्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥३८॥ ०—१॥

अर्थ :—(कीर्त्तिः) कीर्त्ति (च) और (यशः) यश (च) और (अम्भः) जल [के समान निरन्तर प्रवाहशीलता] (च) और (नभः) आकाश [के समान प्रकाशाश्रयता] (च) और (ब्राह्मण-वर्चसं) ब्रह्म-तेज (च) और (अन्नं) अन्न (च) और (अन्नाद्यं) अन्न पचानेकी शक्ति ॥३८॥

ये भिन्न भिन्न लौकिक और पारलौकिक फल हैं । ये किसे मिलते हैं ? ये उसे मिलते हैं,

(१५) य एतं देवमेकवृतं वेद ॥३९॥ ०—२॥

अर्थ :—(यः) जो (एतं) इस [पूर्व-कथित] (एक-वृतं) अखण्ड (देवं) महाप्रभुको (वेद) जान लेता है [और उसीकी भक्तिद्वारा अतुलशक्ति आदिको उपार्जन करता है] ॥३९॥

भगवद्भक्ति क्या कुच्छ नहीं दे सकती ? आश्चर्य तो यह है कि सच्चा भक्त शनैः २ इन सब कामनाओं से सन्तुष्ट न रहकर साक्षात् स्वयं भगवान्को ही लेना चाहता है । उसके मिलनेसे सब कुच्छ मिला मिलाया है । प्रथम तो कोई और इच्छा होती ही

नहीं, और यदि, होगी, तो उसकी पूर्त्तिमें देर नहीं लगती। कठिनता तो भक्ति-निष्ठाकी प्राप्तिमें है। मनुष्य वाचिक तौरपर सहस्रशः यही कहता है कि ईश्वर एक है। पर इसके जीवनमें उसकी नहीं, वरन् अन्य अवान्तर देवताओंकी प्रभुता पाई जाती है। जिसकी जो वासना प्रबल होती है, उसके सामने इसीके अनुरूप पदार्थ दिन रात नाचते रहते हैं। वही उसके सिरपर भूतकी तरह सवार रहते हैं। उन्हींके उसे स्वप्न आते हैं। उन्हींकी प्राप्तिकेलिये वह नाना प्रकारके नाटक करता है। कभी उदग्र रणचण्डीका स्वांग भरता है तो कभी अति दीन, हीन, अनाथ बना फिरता है। सच है, सच है, सच्ची ईश्वर-भक्ति केवल ईश्वर-भक्ति, विशुद्ध, एक अखण्ड तत्त्वकी भक्ति मानव-हृदयका अतिदुर्लभ विकास और परिणाम है। इसी कारणसे आगे इस परम निष्ठाको पैदा करनेकी प्रेरणा की है। सद्भक्तको प्रेरणा की है कि ईश्वरकी भावनामें सच्ची एक-बुद्धि तथा अनन्य-धारणाको सिद्ध करो। तभी कल्याण होगा, नहीं तो साधारण, लौकिक भक्ति एक विशेष विकासकारिणी न होसकेगी। एक ईश्वरको अपना मालिक, अपना ध्येय, अपना पूज्य समझो। एकसे अधिक प्रिय होसकते हैं, प्रियतम नहीं होसकते। प्रेमका फल प्रियतमसे जो मिलता है, वह दूसरोंसे कभी नहीं मिल सकता। प्यारो! अगले मन्त्रोंको इन भावोंसे भरा हुआ समझो। देखो, एकेश्वरवादको कितना मांझा है। कितना परिमार्जित करके भक्तजनोंके हृदयोंसे काम, लोभ तथा मोहके भ्रान्ति-देवताओंके साथ अन्य

मिथ्या, कपोल-कल्पित देवो, देवताओंको बाहर निकालकर एक अखण्ड, अद्वितीय भगवान्को पूज्यतम निर्धारित किया है । सुनिये,

(१६) न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥४०॥
०—३॥

अर्थ :—[उस एक महाप्रभुके सिवाय या उसके साथ वर्तमान] (द्वितीयः) दूसरा (न) नहीं है; (तृतीयः) तीसरा (न) नहीं है ; (अपि) और (न) नहीं [कोई] (चतुर्थः) चौथा (उच्यते) कहा जाता है ॥ ४० ॥

(१७) न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥४१॥
०—४॥

अर्थ :—(पञ्चमः) पाँचवां (न) नहीं है ; (षष्ठः) छठा (न) नहीं है ; (अपि) और (न) नाहीं (सप्तमः) सातवाँ (उच्यते) कहा जा [सकता] है ॥४१॥

(१८) नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ ४२ ॥
०—५॥

अर्थ :—[वह] (अष्टमः) आठवां (न) नहीं ; (नवमः) नवां (न) नहीं ; (दशमः) दसवां (अपि) भी (न) नहीं (उच्यते) कहा जाता ॥४२॥

प्यारो, प्रभुकी एकताके प्रतिपादनकी कितनी गौरवपूर्ण तथा निर्णयात्मक रीति है ! दूसरा, तीसरा आदि विशेषण अखण्ड, एकतास्वरूप प्रभुमें क्योंकर होसकते हैं। गिनती वस्तुतः एकसे

लेकर दस तक ही होती है । इसके आगे तो इसीके अंगोंकी पुनरुक्ति की जाती है । दो से लेकर दस तक ईश्वरोंका निषेध करनेका भाव यह है कि ईश्वरके साथ सिवाय इकाईके अन्य कोई संख्या लग नहीं सकती । वह एक, अभिन्न जगदीश्वर पूजाके योग्य है ॥

(१९) स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥४३॥　　　　०—६॥

अर्थ :—(सः) वही (सर्वस्मै) सबके [कल्याण] केलिये (वि-पश्यति) भली प्रकार देखता है (यत्) जो (प्राणति) प्राणधारी है उसे (च)　(यत्) जो [प्राणधारी] (न) नहीं [उसे] ॥४३॥

(२०) तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥४४॥　　　　०—७॥

अर्थ :—(इदं) यह (सहः) बल (तं) उसे (नि-गतं) अच्छी तरह प्राप्त है ; (सः) वह (एषः) यह [प्रसिद्ध तथा साक्षात्] (एकः) एक (एक-वृत्) स्वतन्त्र (एकः) एक (एव) ही [है] ॥४४॥

(२१) सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥४५॥　　　　०—८॥

अर्थ :—[अन्य] (सर्वे) सब (देवाः) देवता (अस्मिन्) इसमें (एक-वृतः) एकाश्रित (भवन्ति) होते हैं ॥४५॥

यहां दूसरा 'पर्याय' समाप्त होता है । तीसरे 'पर्याय' में महाप्रभुकी सर्वशक्तिशालितापर बल दिया गया है । अब उसे आरम्भ करता हूं । सुनिये,

(२२) ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥४६॥ ०—१॥

अर्थः—(ब्रह्म) (च) और (तपः) तप (च) और (कीर्त्तिः) कीर्त्ति (च) और (यशः) यश (च) और (अम्भः) प्रवाहशीलता (च) और (नभः) प्रकाशशीलता (च) और (ब्राह्मण-वर्चसं) ब्रह्मतेज (च) और (अन्नं) अन्न (च) तथा (अन्नाद्यं) अन्न पचानेकी शक्ति [ये सुन्दर, स्पृहणीय फल ईश्वरभक्तको मिलते हैं] ॥४६॥

(२३) भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च ॥४७॥ ०—२॥

अर्थः—(भूतं) जो होचुका [उसके विषयमें सिद्धि] (च) और (भव्यं) जो होना है [उसकी सिद्धि] (च) और (श्रद्धा) (च) और (रुचिः) दीप्ति (च) और (स्वर्गः) अनतिशयित सुखकी प्राप्ति (च) तथा (स्वधा) अन्नादिकी प्रचुरता [ये मीठे फल भगवद्भक्तको मिलते हैं] ॥४७॥

(२४) य एतं देवमेकवृतं वेद ॥४८॥ ०—३॥

अर्थः—(यः) जो (एतं) इस (देवं)को (एक-वृतं) अभिन्न-आत्माश्रय (वेद) जान लेता है [उसे पर्व कहे रुचिर फल मिलते हैं] ॥४८॥

अब उसकी महती शक्तिके विस्तारका संकेत करते हैं।

(२५) स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः ॥४९॥ ०—४॥

अर्थः—(सः) वह (एव) ही (मृत्युः) मृत्यु है (सः) वही (अमृतं) अमृत है; (सः) वही (अभ्वं) दुःख है; (सः) वह (रक्षः) राक्षस है ॥४९॥

तात्पर्य यह है कि इन सब भावोंपर उसीका पूर्ण अधिकार है। दुष्टोंके प्रति वह मृत्यु, दुःख तथा राक्षसका स्वरूप धारण करके, मानो, विद्यमान होता है। श्रेष्ठोंके प्रति वह अमृतस्वरूप है अर्थात् संसारी लोगोंके सुख, दुःखका विभाजक वही है। कहीं उसकी नीति मधुर, रसीली प्रतीत होती है और कहीं क्रूर, भयानक तथा राक्षसी जंचती है। वस्तुतः न उसे किसीमें राग है और न किसीसे द्वेष है। हमारे अपने भिन्न २ कर्म उसके अलग २ स्वरूपोंको, मानो, बुलाकर लाते हैं। इन्हीं भावोंका विस्तार आगे भी समझना चाहिये।

(२६) स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः ॥५०॥ ०—५॥

अर्थः—(वसु-देये) धनके दानमें (सः) वह (वसु-वनिः) धनको स्वीकार करने वाला (रुद्रः) रुद्र हैं, (नमोवाके) पूजामें [वही] (अनु-संहितः) साथ लगा हुआ (वषट्कारः) वौषट्-शब्द है ॥५०॥

जितना दान और पुण्य होता है, उसीके निमित्त होता है। जितना पूजा-पाठ होता है उसीके लक्ष्यसे होता है। विशेष आहुतियोंके पीछे 'वौषट्' यह शब्द 'स्वाहा' की भान्ति पढ़ा जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आहुति उसीको बुलाती हुई समाप्त होती है। सच्ची आस्तिक बुद्धि ही दानादिमें प्रवृत्ति पैदा करती

है। जिसके अन्दर परमात्माधीन जगन्नीतिका विश्वास जागृत नहीं, उसकी तप और त्यागमें प्रवृत्तिका होना अचम्भा होगा।

(२७) तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥५१॥
०—६॥

अर्थः—(इमे) ये [लोक में प्रसिद्ध] (सर्वे) सब (यातवः) जादू (तस्य) उसकी (प्र-शिषं) आज्ञाका (उप-आसते) पालन करते हैं।॥५१॥

लोग कहते हैं, अमुक मनुष्यपर किसीने जादू टोना कर दिया। पर वास्तवमें, उसे अपने कर्मानुसार प्रभुकी ओरसे दण्ड मिलता है, जहां जो जिसे प्राप्त होरहा है, वह सुख हो या दुःख, प्रभुकी आज्ञा तथा नियमानुसार होता है। साधारण जन भ्रममें पड़कर जादू टोना तथा मन्त्र जन्त्रका उसे परिणाम समझकर ठगे जाते हैं। सच पूछो तो सबसे बड़ा जादू शुभ कर्मों द्वारा प्रभुको प्रसन्न कर लेना है।

वस्तु०—महाराज, क्या जादू टोना ठीक है ?

महा०—इसीका तो वेदने उत्तर दिया है। साधारण आंख जहां जादूका प्रभाव देखती है, वहां वेदकी सूक्ष्म दृष्टि प्रभुका अनिवार्य नियम देखती है। यदि वह जादू न भी किया जाता, तो भी फल वही होना था। इसलिये वृथा जादू टोनेमें समय नष्ट करना बुद्धिमान्, ईश्वरभक्तोंका काम नहीं। उससे डरते रहना भी ठीक नहीं। डरना तो ईश्वरके नियमोंसे ही चाहिये। उनकी आराधना शुभ कर्मों द्वारा होती है, न कि विशेष प्रकारके जन्त्रों, मन्त्रों और बलियों द्वारा। पर युग, युगान्तरमें

जनताका एक भाग सच्ची सिद्धिसे विमुख रह कर, इस छोटी, व्यर्थ तथा घोर जादू-सिद्धिमें लगा ही रहा है। मनकी शक्ति अथाह है। उसके आधारपर हमारे भावों तथा संकल्पों द्वारा प्रभाव-क्षेत्र अवश्य पैदा होता है। वह प्रभाव-क्षेत्र मकड़ीके जालके समान है। वेदका यह आशय है कि उस जालमें जो मक्खी फंसती है, वह अपने अनिष्ट कर्मोंसे प्रेरी हुई ही फंसती है। इसलिये उसके दुःखका कारण जादूगरका जादू नहीं ठहरता, वरन् उसका अपना कर्म ही होता है। जादू तो एक तरहसे पूर्व विद्यमान अनन्त दुःख-साधनोंमें कुछ और साधनोंको जोड़ता है। अधिकसे अधिक सुख, दुःखके भोगमें जादू आदिका और कुछ हाथ नहीं होसकता। वास्तविक कारण हमारा कर्म और नियामक ईश्वर ही है। अस्तु, प्रभुकी महिमा आगे और कही है।

(२८) तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥५२॥

०—७॥

अर्थः—(अमू) वे [दूरवर्ती] (सर्वा) सब (नक्षत्रा) नक्षत्र (चन्द्रमसा) चन्द्रमाके (सह) साथ (तस्य) उसके [अधीन] हैं ॥ ५२ ॥

यद्यपि भौतिक कोटिमें भी सविता चन्द्र तथा नक्षत्रोंका प्रेरक तथा प्रकाशक है, तो भी सब नक्षत्रोंका नहीं। विभक्त आधिदैविक कोटिमें भी सबका शासक नहीं। हां, अखण्ड कोटिमें वह सब विश्वका शासक है। नक्षत्रसे यहां केवल सौर जगत्के तीसके लग भग अंग-लोक ही नहीं, वरन् रात्रिके समय दृश्यमान

अनन्त लोक ग्रहण करने चाहियें । वे सब उस अविभक्त सविता महा-प्रभुके अधीन है । वही सर्वात्मा, सर्वाधार तथा सर्वनियन्ता है । अब चौथा 'पर्याय' आरम्भ होता है ।

(२९) स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत ॥५३ ॥ ०—१॥

अर्थः—(सः) वह (वै) निश्चय करके (अह्नः) दिनसे (अजायत) प्रकट हुआ; (तस्मात्) उससे (अहः) दिन (अजायत) प्रकट हुआ ॥ ५३ ॥

वस्तु०—महाराज, यह क्या बात हुई ?

महा०—प्यारो, दिन सविताके प्रकाशसे होता है । यह बात तो सभी जानते हैं । पर यहां केवल इतना ही तात्पर्य नहीं । दिन पृथिवीकी गतिका परिणाम है । पृथिवीकी अपनी धुरीपर गति क्यों होती है ? क्योंकि उसका मूल कारण, सूर्य भी इसी प्रकार अपनी धुरीपर घूमता रहता है । तनिक और बढ़ कर देखें तो पता चलता है कि एक २ परमाणु घूमता रहता है । निरन्तर घूमना प्रत्येक भौतिक पदार्थका धर्म बन रहा है । सो दिन भी इसी नियमका एक परिणाम और फल है । इसमें परमकारण जगन्नियन्त्री शक्ति है । वही ईश्वरीय शक्ति है । पर उस परमकारणको जाननेमें रुचि कैसे पैदा होती है ? दिन होता है । सब जीव, जन्तु अपने निर्वाहकी चिन्तामें इधर उधर निकल पड़ते हैं । मनुष्योंमें भी यही स्वभाव पाया जाता है । कोई २ विचारशील, मनस्वी प्रभातके शान्त समयमें उठकर बाहर जो निकलता है, तो उसकी दृष्टि पूर्वदिशाकी लालीपर पड़ती है । मनमें विचार-तरंग कल्लोल

करने लगते हैं। उसका मुख भी लाल होजाता है। बाल-भानुका लाल प्रकाश उसपर पड़ रहा है। पर उससे वह लाल नहीं हो रहा। एक ओर बाल-भानु उसके हृदय-कमलको विकसित करता हुआ उदय होरहा है। उसकी जीवनप्रद किरणोंका स्पर्श होते ही वह लाल हो गया है। उसने अन्दर ही अन्दर कारणपरम्पराकी सीढ़ी पर चढ़ना आरंभ कर दिया है। वह बढ़ते २ उदयाचलपर जा चढ़ा है। वहांसे वह साक्षात् आधिदैविक भानुको विराट् रूपमें देख रहा है। यह सारा प्रयत्न दिनके स्वरूपपर विचारके पीछे हुआ। यह ब्रह्म-बोध उस प्रयत्नका ही फल है। इसलिये, वेदने संक्षेपसे कह दिया, 'वह दिनसे प्रकट होता है' अर्थात् दिनकी शोभा उसीकी विभूति है। इस विभूतिके प्रकाशसे इसके कारण-भूत, नियामक, देवताओंके देवताका बोध जागृत होजाता है। प्यारो, इस प्रकार इस 'पर्याय'में भिन्न २ पदार्थों को महाप्रभुसे प्रकट होता हुआ बताते हुए, उन्हें उसकी विभूति अर्थात् प्रकाशकके रूपमें भी वर्णन किया है। उसका बोध या संकेत सब पदार्थ करा रहे हैं। देखने वाली आंख चाहिये। कितना विशाल भाव है! अब मैं संक्षेपसे इस पर्यायको कहे जाता हूं।

(३०) स वै रात्र्या अजायत तस्माद्र रात्रिरजायत ॥५४॥ ०-२॥

अर्थः—(सः) वह (वै) सचमुच (रात्र्याः) रात्रिसे (अजायत) प्रकट हुआ; (तस्मात्) उससे (रात्रिः) रात्रि (अजायत) पैदा हुई ॥५४॥

रात्रिकी उत्पत्ति भौतिक जगत्‌में होती है और महाप्रभुको वह

अपने स्वरूपपर किये जाने वाले विचारके द्वारा भक्तजनोंके हृदयोंमें प्रकाशित करती है। इस प्रकारसे आगे भी एक भौतिक तथा दूसरी मानसिक या आध्यात्मिक उत्पत्तिका भाव समझना होगा ॥

(३१) स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षम-जायत ॥३२॥ ०—३॥

अर्थः—(सः) वह (वै) अवश्य (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षसे (अजायत) प्रकाशित हुआ; (तस्मात्) उससे (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (अजायत) पैदा हुआ ॥५५॥

(३२) स वै वायोरजायत तस्माद्व वायुरजायत ॥५६॥ ०—४॥

अर्थः—(सः) वह (वै) निःसन्देह (वायोः) वायुसे (अजायत) प्रकट हुआ; (तस्मात्) उससे (वायुः) वायु (अजायत) पैदा हुआ॥५६॥

(३३) स वै दिवोऽजायत तस्माद्द्यौरध्यजायत॥५७॥ ०—५॥

अर्थः—(सः) वह (वै) निसंशय (दिवः) द्युलोकसे (अजायत) प्रादुर्भूत हुआ, (तस्मात्) उससे (द्यौः) द्युलोक (अधि-अजायत) ऊपर पैदा हुआ ॥५७॥

(४४) स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद्द दिशोऽजायन्त ॥५८॥ ०—६॥

अर्थः—(सः) वह (वै) वस्तुतः (दिग्भ्यः) दिशाओंसे (अजायत)

प्रकट हुआ; (तस्मात्) उससे (दिशः) दिशाएं (अजायन्त) पैदा हुईं ॥५८॥

(३५) स वै भूमेरजायत तस्माद्‌ भूमिरजायत ॥५९॥

०—७॥

अर्थः—(सः) वह (वै) निश्चय करके (भूमेः) भूमिसे (अजायत) प्रकट हुआ; (तस्मात्) उससे (भूमिः) भूमि (अजायत) पैदा हुई ॥५९॥

(३६) स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत ॥६०॥

०—८॥

अर्थः—(सः) वह (वै) हां (अग्नेः) अग्निसे (अजायत) प्रकाशित हुआ; (तस्मात्) उससे (अग्निः) अग्नि (अजायत) पैदा हुई ॥६०॥

(३७) स वा अद्भ्योऽजायत तस्मादापोऽजायन्त ॥६१॥

०—९॥

अर्थः—(सः) वह (वै) हां (अद्भ्यः) जलोंसे (अजायत) प्रकट हुआ; (तस्मात्) उससे (आपः) जल (अजायन्त) पैदा हुए ॥६१॥

(३८) स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्मादृचोऽजायन्त ॥६२॥

०—१०॥

अर्थ :—(सः) वह (वै) हां (ऋग्भ्यः) स्तोत्रोंसे (अजायत) प्रकट हुआ ; (तस्मात्) उससे (ऋचः) स्तोत्र (अजायन्त) पैदा हुए ॥६२॥

सब वेद शास्त्रोंका सब स्तुति, स्तोत्रोंका लक्ष्य वही एक महाप्रभु है। सब भक्त उसीको ध्याते हैं। सब रागी उसीको गाते हैं। वही सब विद्याओंका परम तात्पर्य है। पर वही सब वाणियों, स्तुतियों, भक्तियों और ज्ञानोंका परम कारण भी तो है। उसीने हमें मन और बुद्धिसे सुसज्जित किया है। उसीने हमें मस्तक और हृदयसे सुभूषित किया है। इन्हीं शक्तियोंके द्वारा जीवनका ज्ञानात्मक प्रकाश और भक्तिरूप रस उपजता है। अतः इनका कारण ही ज्ञान और भक्तिका भी कारण है। इसी भावको आगे 'यज्ञ' शब्दसे कहा है। यज्ञमें ज्ञान, भक्ति, त्याग सभी आजाते हैं। प्रभु सदा यज्ञस्वरूप है। उसकी सृष्टि यज्ञ स्वरूप है। सुनिये,

(३९) स वै यज्ञादजायत तस्माद्‌ यज्ञोऽजायत ॥६३॥

०—११॥

अर्थ :—(सः) वह (वै) हां (यज्ञात्) यज्ञसे (अजायत) प्रकट हुआ; (तस्मात्) उससे (यज्ञः) यज्ञ (अजायत) पैदा हुआ ॥६३॥

(४०) स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम् ॥६४॥

०—१२॥

अर्थः—(सः) वह [स्वयं] (यज्ञः) यज्ञ [है]; (तस्य) उसके [अधीन] (यज्ञः) यज्ञ [सृष्टिरूप है]; (सः) वह (यज्ञस्य) यज्ञका (शिरः) सिर (कृतम्) बना हुआ [है] ॥६४॥

वह स्वयं यज्ञस्वरूप होता हुआ इस ब्रह्माण्डरूप यज्ञका मस्तक अर्थात् नियामक बना हुआ है। इस संसारको जड कारणका परिणाममात्र मत जानो। इसके चेतन नियन्ताने इसे सबके

कल्याणकेलिये यज्ञका रूप दे दिया है। यहां किसीको न व्यर्थ हिंसा होती है और न किसीको व्यर्थ दुःख पहुँचता है ये हिंसाएं और ये दुःख हमारी परीक्षाएं हैं। इनके द्वारा हमारा शोधन होता है। वह दयापूर्ण, महाप्रभु स्वयं इस यज्ञके सिरपर खड़ा है। उसके होते हुए, किसी प्रकारकी चिन्ता मत करो। लाओ, हाथ भर २ कर लाओ। आहुतियां दो और जीवनको सफल करो। अपनी तुच्छ वासनाओंसे इस सामष्टिक यज्ञको दूषित न करना। यहां स्वार्थ और परमार्थका एक अर्थ है। इनका परस्पर कोई विरोध नहीं। वेद इस भावकी शिक्षा देता हुआ, प्रभुको यज्ञ स्वरूप, जगत्को यज्ञस्वरूप और प्रभुको यज्ञनेतृस्वरूप वर्णन करता है। उस अखण्ड 'सविता' महाप्रभुकी विभूति केवल भौतिक सविता तक परिमित नहीं। तीनों लोकोंकी विभूतियां उसीकी समझो। इस रहस्यको समझानेकेलिये ही अब उसका मध्यम लोककी महिमवती देवताओंके रूपमें वर्णन करते हैं। आरम्भमें भी महेन्द्र कहकर स्तुति कर आये हैं। धाता, विधर्ता आदि देवताओंको उसीका स्वरूप तथा नामान्तर कह चुके हैं। अब विस्तारके पीछे उपसंहारका पर्याय आ पहुंचा है। इस भावसे ही सर्वत्र उसकी महिमाको दिखाकर, अन्तमें भक्ति-विषय संकल्प-मन्त्रों द्वारा समाप्त करेंगे। हां, सुनिये,

(४१) स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मान-मस्यति ॥६५॥ ०—१३॥

अर्थः—(सः) वही (स्तनयति) गर्जता है (सः) वही (वि-द्योतते) खूब लसकता है; (उ) और (सः) वही (अश्मानं) ओलेको (अस्यति) फेंकता है ॥६५॥

वही सविता-महाप्रभु पर्जन्य, विद्युत, वायु, इन्द्र आदिके नामों तथा कर्मों का असली आश्रय है। इन अलग २ नामोंसे उसको विभक्त अथवा उससे भिन्न किसीको पूज्यदेव मत समझो। अब इस जगन्नीतिकी न्यायमूलकता तथा निष्पक्षताकी ओर संकेत करते हैं।

(४२) पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥६६॥ ०—१४॥

अर्थ—[यह सब कुच्छ] (पापाय) पापीकेलिये (वा) और (भद्राय) भले पुरुषकेलिये (वा) अथवा (पुरुषाय) मानवधर्म पालकके लिये (वा) या (असुराय) मनुष्यताहीन, क्रूराचारीकेलिये [=सब प्रकारके जीवोंकेलिये होरहा है] ॥६६॥

साम्यवादका क्या सुन्दर संकेत है। सूर्य चमकता है। चन्द्रमा दमकता है। बादल गड़कता है। बिजली लसकती और कड़कती है। मेंह बरसता है। वायु चलती है। नदियां चलती हैं। आग जलती है। पर क्या ये पदार्थ एक भोक्ताको दूसरेसे अलग करते हैं? क्या राजाके महलपर सूर्य चमकता है और रंकके झोंपड़ेसे उसे घृणा है? जब विश्व-यज्ञमें सभी जीव, जन्तुका प्रवेश है, तो धिक्कार है मनुष्यकी धूर्त्तता और नीचताको जो कि अपने ऐसोंको अछूत बना २ कर दूर भगाता है! धिक्कार है धर्माभिमानी लोगोंको, जो धर्म-मन्दिरका द्वार अपने ऐसोंकेलिये बन्द कर देते हैं! महाप्रभुके यज्ञमें नर, नारी, ब्राह्मण, शूद्र, सभीको बैठने, आहुति डालने और लाभ उठानेका समान अधिकार है। हां, फल अलग २ सबको

मिल रहा है। उसमें जैसी जिसकी भावना होती है, वैसा ही उसे फल मिल जाता है। धन्य है यह विचित्र यज्ञ, जो आर्य अनार्य, भद्र पापी, तथा सुर असुर—सभीको निमन्त्रण देता है। सभीको विकासका अवसर मिलता है। कोई लाभ उठाता है और कोई समय खोकर अनुतापसे सिर धुनता है। पर इसमें प्रत्येक अधिकारीका अपना २ गुण, दोष कारण है। विधाताका विश्व सबकेलिये खुला है।

(४३) यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः ॥ ६७ ॥ ०—१५॥

अर्थः—(यद्वा) चाहे [तुम] (ओषधीः) अनाज आदि ओषधियां (कृणोषि) पकाते हो; (यद् वा) चाहे (भद्रया) सुखकारी [होकर] (वर्षसि) बरसते हो [और] (यद्वा) चाहे (जन्यं) जनताको (अवीवृधः) बढाते हो [अगले मन्त्रसे संगति है] ॥ ६७ ॥

(४४) तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥ ६८ ॥ ०—१६॥

अर्थ—हे (मघवन्) धनपते इन्द्र! (तावान्) उतनी [तो] (ते) तेरी [केवल] (महिमा) [है]; (उ) पर (ते) तेरे [असली] (शतं) सैंकड़ों (तन्वः) स्वरूप [हैं, जो] (उप) सर्वत्र समीपवर्ती [होरहे हैं] ॥ ६८ ॥

हे 'सवितः' महाप्रभो! तुझे इन्द्र करके पुकारूं, चाहे किसी और नामसे पुकारूं, तेरे स्वरूपोंकी कोई अवधि तो नहीं है। उन्हें देखनेको तीव्र, आध्यात्मिक आंख चाहिये। इन नाना स्वरूपोंमें

हे देव, तुम सर्वत्र समीप ही विचरते हो, पर देखनेमें तो आते नहीं ! यह चमकना चमकाना, बरसना, बरसाना, पकना पकाना तो केवल तेरा इशारा है। यह साक्षात् तुम नहीं हो। इनमें तुम हो। या गीताके शब्दोंमें यों कहें, कि ये तेरी महिमा तुझमें है, तुम इसमें नहीं हो। अर्थात् महिमाके एक २ स्वरूप तथा विभागकी सीमा तो आजावेगी, पर तेरा अन्त कोई न पा सकेगा। तेरे स्वरूपके प्रकाश अनन्त हैं। इसी अन्तिम भावको अगले मन्त्र द्वारा पूर्ण किया है।

(४५) उपो ते बद्धे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम्
॥ ६९ ॥ ०—१७॥

अर्थ—(उ) और [सैंकड़ों ही क्यों कहूं] (ते) तेरे (बद्धे) लाखमें (बद्धानि) लाखों [स्वरूप] (उप) पास [वर्त्तमान होरहे हैं]; (वा) और [कौन कहे] (यदि) [तुम] (नि-अर्बुदम्) अरबोंसे भी आगे पहुंचे हुए (असि) हो ॥ ६९ ॥

भला इतना अहंकार कौन करसकता है ? नहीं, प्रभुके रूप २ में प्रतिरूप होकर वर्त्तमान होरहे असंख्य स्वरूपोंकी गिनती नहीं होसकती। लाखोंका वहां क्या काम, जहां अरबोंका भी कोई अधिकार नहीं ? इसलिये, मानुषी वाणी तो केवल कुच्छ संकेतोंको लेकर महिमाको ही गासकती है। वास्तविक देव-स्वरूप साधारण साधनों द्वारा सर्वथा और असाधारण साधनों द्वारा भी पूर्णतया जानना असंभव है । इसलिये अगले दोनों 'पर्याय' स्तुति और उपासनामें ही भक्तके हृदयको लीन करते हुए, मानो,

जीवन मार्गका सन्देश सुनाते हैं ।

(४६) भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥७०॥ ०—१॥

अर्थ—(इन्द्र)=['सविता' महाप्रभु = अखण्ड एक-देव] (नमुरात्) न मरनेवाले [अक्षर] से (भूयान्) बड़ा [है और] हे (इन्द्र) (मृत्युभ्यः) मौतों [=मरनेवाले, क्षरों] से [भी] (भूयान्) बड़े [हो] ॥७०॥

प्रभो ! तुम अद्वितीय, अनुपम हो । न कोई नित्य और न अ-नित्य पदार्थ तुम्हारे ऐसा कभी हुआ या हो सकता है । मर्त्यों से तुम बड़े हो । देवताओंसे तुम बड़े हो ।

(४७) भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥७१॥ ०—२॥

अर्थ—हे (इन्द्र) ! (त्वं) तुम (अरात्याः) अदानशीलता से (भूयान्) बड़े (असि) हो (शच्याः) शक्तिके (पतिः) पालक [हो] (विभूः) सर्वप्रकाश (प्रभूः) सर्वनाथ [हो] (इति) इस प्रकार (त्वा) तुम्हें (वयं) हम (उपास्महे) उपासते हैं ॥७१॥

कंजूस लोग धन संभाल संभाल कर रखते हैं । न स्वयं सुखसे रहते हैं और न कोई उपकारका काम करते हैं । जब मृत्यु सिरपर आजाती है, तब कहीं उन्हें पता लगता है कि कोई हमसे भी बड़ी शक्ति है जो इस धनकी असली मालिक है । पर शोक, उस धरी धराई सम्पत्तिको छोड़कर चलना ही पड़ता है । हमें चाहिये कि उस सर्वप्रकाश सर्वनाथकी उपासना करते हुये, उसके दिये हुये

साधनोंका लोकोपकारकेलिये सदा सदुपयोग करते रहें।

(४८) नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥७२॥

०—३॥

अर्थ—(ते) तुझे (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो [हे सब विभूतियो !] (पश्यत) देखो; [हे महाप्रभो !] (पश्य देखो); [हे सब प्रकाशो !] (पश्यत) देखो ॥७२॥

आधिदैविक भक्ति अनेक प्रेरणाकेन्द्रोंसे आरम्भ होकर, एक सर्व-केन्द्र महाप्रभुमें पर्यवसित होकर, पुनः महिमगानके भावसे अनन्त स्वरूपोंके वर्णनमें विभक्त होजाती है। इसी भावको, मानो, यह मन्त्र प्रकाशित करता है। भक्त एक २ विभूतिसे बढ़ता हुआ अन्तमें सब विभूतियोंके केन्द्रपर जा पहुंचा है। अब पुनः स्तुति-धाराओंमें हृदयको तराता हुआ, कभी किसी रसका आनन्द लेता है और कभी किसीका। पर अब और तबकी अनेक भावनामें बड़ा अन्तर है। अब सब देव एक होचुके हैं। अब नानामें समानका आनन्द है।

(४९) अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥७३॥

०—४॥

अर्थ :— हे [प्रभो ! तुमसे दी हुई] (अन्नाद्येन) शारीरिक शक्तिसे (यशसा) यशसे (तेजसा) तेजसे [तथा] (ब्राह्मण-वर्चसेन) ब्रह्मतेजसे [युक्त होकर तुम्हें उपासते हैं] ॥७३॥

अब भगवान्के भक्तको उचित है कि अपनी एक २ सम्पत्तिको भगवान्का प्रसाद समझकर दिन रात उसकी स्तुतिमें लगा रहे

वह किसी पदार्थको अपना न समझकर, भगवदर्पित करके तथा होकर, जीवन-यात्राको पूर्ण करे ।

(५०) अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥७४॥ ०—५॥

अर्थः—[हे भगवन्, आप] (अम्भः) जलके समान शीतल तथा प्रवाहशील (अमः) सर्वत्र व्यापक (महः) महान् [तथा] (सहः) धारण करनेवाले [हैं] (इति) इस प्रकार (वयं) हम (त्वा) तुम्हारी (उपास्महे) उपासना करते हैं ॥७४॥

प्यारो, जलमें, स्थलमें वही भगवान् व्याप रहा है । वह कौनसा स्थान है, जहां वह न बस रहा हो । वह कौनसा प्रकाश है, जहां वह न जगमगा रहा हो । वह कौनसा प्रताप है जहां उसका बल न हो । जलकी शीतलतामें उसीकी शीतलता है । जो भक्त जन उसके शीतल स्पर्शको हृदयमें ग्रहण करलेते हैं, उनके सब शोक और ताप शान्त होजाते हैं । जल पर्वत-मालासे निकल कर समुद्रकी ओर बहता चला जाता है । न दिनको ठहरता है न, रातको विश्राम करता है । प्यारो, भगवान्की सारी रचनाका यही स्वभाव है । यहां प्रमादका नाम नहीं। यहां विश्रान्तिसे काम नहीं। इस चलाचल संसारमें भगवान् स्वयं इस सारे अनवरत प्रवाहका मूल स्रोत है । पर यह साधारण मूल सोता अपने स्थानसे हिला नहीं करता, वहां भगवान्की महिमा निराली है । वह स्वयं सर्वत्र चराचरमें रमता राम रम रहा है । इस 'पर्याय'का अन्तिम संकल्प-मंत्र अब कहता हूं ।

(५१) अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥७५॥ ०—६॥

अर्थः—[हे भगवन्, आप] (अम्भः) प्रवाह [तथा] (अरुणं) लाल (रजतं) चन्दीले (रजः) लोक [तथा] (सहः) बल हो (इति) ऐसे (वयं) हम (त्वा) तुम्हें (उपास्महे) उपासते हैं ॥७५॥

भगवान् केवल जलके शीतल प्रवाहसे ही नहीं, वरन् अपने एक २ चमत्कारसे प्रकट होता है। स्वयं प्रकाश सूर्यों के लाल गोलोंकी लालीमें उसकी लीलाको देखो। चन्दीले चन्द्रोंकी चांदनीमें उसकी चांदनीको देखो। शीतलता भी उसीसे है और उष्णता भी उसीसे है। सार तो यह है कि वह जो कुच्छ था, है और होगा, उसका एक अखण्ड आधार था, है और होगा। छठा और अन्तिम 'पर्याय' इसी लयमें लीन होता चला जाता है। उसे भी सुन लीजिये, अब और दस मिनटकी बात है।

सदा०—नहीं, महाराज, आप ऐसा क्यों कहते हैं। आप जब तक इस अमर-गंगाको बहाते रहेंगे, हम भी तब तक इसमें ताप शान्त करते ही रहेंगे।

महा०—बहुत अच्छी बात है। सुनिये,

(५२) उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥७६॥ ०—१॥

अर्थः—[प्रभो, आप] (उरुः) विशाल (पृथुः) विस्तृत (सु-भूः) अच्छे प्रकारसे वर्त्तमान (भुवः) सर्वोत्पादक [हैं] (इति) इस प्रकार (वयं) हम (त्वा) तुम्हें (उपास्महे) उपासते हैं ॥७६॥

(५३) प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥७७॥ ०—२॥

अर्थः—[प्रभो, आप] (प्रथः) विस्तार (वरः) विशालता (व्यचः) फैलाव (लोकः) प्रकाश [हैं] (इति) इस प्रकार (वयं) हम (त्वा) तुम्हें (उपास्महे) उपासते हैं ॥७७॥

प्यारो, एकही विस्तारके भावको बार २ कह कर प्रभुकी सर्व-व्यापकताका प्रकाश किया है। जितना लोकमें लोकत्व अर्थात् प्रकाश है, वह सब उसीका प्रकाश है।

(५४) भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥७८॥ ०—३॥

अर्थः—[प्रभो, आप] (भवत्-वसुः) सम्पत्तिशाली (इदत्-वसुः) ऐश्वर्ययुक्त धन वाले (संयत्-वसुः) सुरक्षित धन वाले [तथा] (आयत्-वसुः) विशाल धन वाले [हैं] (इति) इस प्रकार (वयं)हम (त्वा) तुम्हें (उपास्महे) उपासते हैं ॥७८॥

(५५) नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥७९॥ ०—४॥

अर्थः—[हे प्रभो,] (ते) तुम्हें (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो ; [हे विभक्त आधिदैविक विभूतियो!] (मा) मुझे (पश्यत) देखो ; [हे एक, अखण्ड प्रकाश !] (पश्य) देखो ; [हे उस परम ज्योतिकी ज्योतियो !] (पश्यत) देखो ॥७९॥

यह और अगला मन्त्र पूर्व 'पर्याय'में समझाये जाचुके हैं

अतः अधिक देर न करता हुआ, अन्तिम मन्त्रका पाठ करके समाप्त करता हूं।

(५६) अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥८०॥

०—५॥

अर्थ—[हे महामहिम!] (अन्नाद्येन) शारीरिक शक्ति द्वारा (यशसा) यशद्वारा (तेजसा) तेजद्वारा (ब्राह्मण-वर्चसेन) त्याग और तपके प्रकाशद्वारा [हम आपकी उपासना सदा करते रहें] ॥८०॥

सत्य०—महाराज, प्रकरण समाप्त हो चुका क्या?

महा०—हां, बेटा, समाप्त होगया। आपने देख लिया किस तरह सविता-महाप्रभु वस्तुतः इन्द्रादि देवोंसे अभिन्न होता हुआ भी, विभक्त धारणाके समय पृथक् कल्पना कर लिया जाता है। परमार्थ दृष्टिसे इस सकल आश्चर्यमयी जगद्रचना तथा विस्तृतिका, बल तथा शक्तिका, प्रकाश तथा प्रदीप्तिका परमाधार वह अनेक नामों और गुणोंका स्वामी, एक, अखण्ड, सच्चिदानन्द परम ब्रह्म ही है॥

अष्टम खण्ड।

एक अखण्ड परम ज्योति।
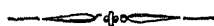
महा०—प्यारे वेदभक्तो, कलका प्रकरण बहुत लंबा था। कई वार इच्छा तो पैदा हुई, पर मैं आपको अधिक सोचने और साथ २ मनन करनेका अवसर न देसका। यदि कोई विशेष बात आप इस संबन्धमें पूछना चाहें, तो मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ उस विषयमें समाधान करनेका प्रयत्न करूंगा।

सत्य०—भगवन्, आपने कल तो एक प्रकारसे वैदिक एकेश्वर-वादको हिमाचलके शिखरपर प्रतिष्ठित करके दिखा दिया। आरम्भ २ में कई सुनी सुनाई बातें चित्तको डांवा-डोल अवश्य करती थीं, पर शनैः २ आपको कृपासे पूर्ण सन्तोष होगया है। अब यह बात भली भान्ति जान ली गयी है कि वेद भगवान् नाना देवताओंकी उपासना नहीं सिखाता। उसमें केवल भौतिक अर्थात् जड शक्तियोंकी पूजा भी नहीं पायी जाती। वेदका ईश्वर सब बलोंका बलस्वरूप और सर्वप्रकाशोंका परम प्रकाश है। सूर्य, चांद और तारागणमें उसीकी महिमा है। अग्नि, वायु और जलमें उसीकी महिमा है। अनन्त लोक, लोकान्तरोंमें उसीकी महिमा है भगवन्, आपका कोटिशः धन्यवाद है। अब मैंने वैदिक भक्तिवादके रहस्यको कुच्छ २ समझना आरम्भ किया है। अवमें अग्नि, इन्द्रादिके भौतिक स्वरूपको आधिदैविक ज्योतिमें और उसे एक,

अविभक्त परम ज्योतिमें लीन होता हुआ देखने लगा हूं । मेरी पहिलेसे ही मूर्त्तिपूजा तथा अन्य सहस्रों प्रकारके देवी-देवताओंकी पूजामें मति स्थिर न होती थी । मैं उन्हें असत्य समझता हुआ भी चुप रहता था और अन्दरसे हैरान हुआ करता था कि हमारे योगसिद्ध, ज्ञानसिद्ध, अनुभवसिद्ध महापुरुषोंने वेदादि शास्त्रोंमें ऐसी बातोंको लिखा क्यों है ? मुझे क्या पता था कि श्रुति भगवती तो इनसे भिन्न, इनसे ऊपर, विलक्षण, आनन्दप्रद, निर्मल, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ब्रह्माण्डोंको परम एकतामें परिपक्क कर देने वाली पूजाको सिखाती है ! सच है, आपके इस ब्रह्म-प्रसादसे मैं कृतकृत्य होरहा हूं ।

वस्तु०–महाराज, अब तो यही जान पड़ता है कि सब वस्तुओंका परम स्वरूप वह अखण्ड, एक, ज्योतिस्वरूप भगवान् है । उसके विना भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सब असंभव हैं ।

महा०—बेटो, आपने मेरे भावको भली भांति जाना है । इससे मेरा चित्त सन्तुष्ट तथा प्रसन्न है । वेद जानता है कि उस अखण्ड, एक, ज्योतिका परम दर्शन और साक्षात्कार आध्यात्मिक ही होना उचित है । पर उसका क्रम क्या हो ? भक्तिका उपदेश सुनकर जो मस्ती सी पैदा होती है, वह चिर तक स्थिर रहने वाली सम्पत्ति नहीं होती । कथादिको निरन्तर सुनते रहना चाहिये । उधर प्रवृत्ति होगी, तभी शास्त्रीय मार्गसे परिचय रहेगा । पर हम लोग प्रायः ऐसा समझते हैं कि सदुपदेश द्वारा हमारा जीवन सफल हो गया है । जहां कहीं कोई अच्छा व्याख्यान सुनते हैं, दौड़कर पहुंचते हैं ।

पर, प्यारो, यह तो सन्मार्गका आधा भाग है और वह भी छोटा आधा। बड़ा तो उसे धारण करनेसे सिद्ध होता है। वह सिद्धि बड़ी कठिन है। अपार, संसारके सागरमें भयानक लहरें दिन रात ठाटें मार रही हैं। जीवनकी जीर्ण नौकाको उनपर सावधान होकर तराना है। कोई साथ चलने वाला कर्णधार नहीं मिलता। सदुपदेशक इसी किनारेपर खड़े होकर कुच्छ २ मार्गका इशारा जरूर करते हैं, पर यात्रापर अकेले ही जाना होता है। प्यारो, हमसे पूर्व असंख्य सत्पुरुषोंने अपने पुरुषार्थकी जागृत-रेखाको इतिहास-तलपर प्रतिष्ठित करके, पीछे आने वाले यात्रियोंकेलिये, एक चिरस्थायी, पथ-प्रदर्शक, ज्योति-स्तम्भको खड़ाकर दिया है। हम जानते हैं कि उनकी अन्तिम सिद्धि बाहरके पट देकर अन्दरके पट खोलनेसे हुई थी। पर हम इसे क्योंकर कर पावेंगे ? वेद भगवान्‌के उपदेशकी यह महिमा है कि वह हमें आदिमें ही आंखें बन्द करना न सिखाकर उन्हें अच्छी तरह खोलकर प्रत्येक भौतिक प्रकाशके केन्द्र तक घुसते जानेकी शिक्षा देता है। जितना मनुष्य अधिक तत्त्वज्ञ और अधिक विचारशील होगा, उतना ही शीघ्र उसे ठीक मार्गका और ठीक मर्मका बोध होगा। चाहे उसकी श्रद्धा अनेक प्रकारकी परीक्षाओंके पीछे जागृत होगी, पर वह होगी असली, सत्यनिष्ठारूपी श्रद्धा। उसके विशाल, उदार, भगवद्भक्ति सरोवररूप हृदयमें चारों ओरसे विशुद्ध भक्तिकी धाराएं आ २ कर लीन होंगी। अलग २ धाराका अलग २ स्रोत होगा। किसीका शान्त, शीतल प्रवाह होगा, तो किसीका प्रचण्ड,

प्रखर प्रताप भी होगा। पर वह सच्चा भक्त वरुण और शिवकी शीतल मधुरताको और अग्नि और इन्द्रकी प्रचण्ड प्रखरताको अपने एक, अलक्ष्य, अथाह भावमें लीन करसकेगा। प्यारो, वेदका यह अद्भुत पर चिरसाध्य और कठिन मार्ग है। इसीपर चलनेसे हमारे पूर्वज ऋषियोंने जीवन-सिद्धिको प्राप्त किया। इसीका अवलम्बन करके हमें भी निरन्तर, क्रमबद्ध विकासकी पद्धतिका अनुसरण करना होगा। सच है, आये दिन आनकी आनमें सिद्ध पुरुष बना सकनेका दम भरने वाले कितने ही सम्प्रदाय चले हुए हैं। कोई आंखों, कानों और नासिकाओंको बन्द करके, जिह्वाको तालुसे भिड़ाकर अनाहत शब्दको सुनना सिखाता है। कोई नेती, धोती आदि क्रियाओं, नाना प्रकारके आसनों और नाना प्रकारके प्राणायामोंका उपदेश करता है। कोई वीतराग होकर अनासक्त भावसे युक्त होकर कर्मयोगका मार्ग दिखाता है। कोई ज्ञानवान् होकर एक तत्त्वमें निष्ठारूप ज्ञानमार्गकी प्रशंसा करता है। कोई नाना प्रकारके जप, तप, होम यज्ञादि कर्मोंका संदेश सुनाता है। कोई सब ज्ञान और ध्यानसे बढ़कर 'राम' नामके गानकी तुरी बजाता है। कोई माला, कण्ठी देता है, कोई तिलक, छाप लगाता है। कहां तक गिनावें? इन मार्गोंका कोई अन्त नहीं है। पर ये सब अधूरे हैं, क्योंकि ये क्रमबद्ध जीवन-नीति तथा दृष्टिबन्धके आधारकी एक तरह अवहेलना करते हैं। ये एकदम अन्तिम सीढ़ीपर छलांग लगवाकर चढ़ाना चाहते हैं। घुटने न टूटें तो और क्या हो? मुंह की खाकर या तो साधक रह

ही जाता है और या किसी न किसी प्रकारके पाखण्डरूपी गढ़ेमें धंस जाता है। कितने ही निरपराध लोग भयंकर बीमारियोंके शिकार हुये २ देखे जाते हैं। अभिमान, अहंकार, दम्भ, कपट, असहिष्णुता आदि मानसिक विकारोंको तो यहां उपजाऊ भूमि मिलती है। मुझे वेद भगवान्‌का भक्ति-मार्ग बड़ा सरल प्रतीत होता है। जहां तक चल सकते हो, प्रकाशमें ही चलो। शनैः शनैः सूक्ष्म तत्त्वका प्रतिबोध होने लगेगा। अच्छा तो, आप सदा-शिवजी, कुच्छ पूछियेगा क्या?

सदा०—महाराज, मेरी सन्तुष्टि होचुकी है। केवल एक जिज्ञासा शेष रह रही है। यदि वेद भगवान् अखण्ड,एक ज्योतिको ही परम प्रतिपाद्य विषय समझता है, तो यह अग्नि, इन्द्रादि मूलतः भौतिक संकेतोंसे जुड़े हुये नामोंको छोड़कर, नाम और रूपसे रहित, अलक्ष्य भगवान्‌का सीधा स्वतन्त्र उपदेश भी करता है या नहीं? इसमें तो अब मुझे संदेह प्रतीत नहीं होता कि आपकी बताई हुई प्रक्रियाके आधारपर इन भौतिक देवताओंसे एक परम तत्त्वका ही तात्पर्यार्थ ग्रहण होना चाहिये। पर यदि वेदका कोई ऐसा संकेत भी मिल सके कि जिसमें उस एक, परम तत्त्वका इन नामोंका आधार छोड़कर साक्षात् वर्णन किया गया हो, तो आपकी बड़ी कृपा समझूंगा।

महा०—बहुत अच्छी बात है। आपका प्रश्न स्वाभाविक और समयानुसार है। अब तो परम्परा द्वारा जिस तत्त्वका बोध हुआ है, उसका अब साक्षात् परिचय भी होना चाहिये। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि वेदमें साक्षात् वर्णन भी है। सच बात

तो यह है कि इसी वर्णनकी सत्तासे प्रभावित होकर मुझे पूर्व-प्रपञ्चित प्रक्रियाके मननकी ओर प्रेरणा सी अनुभव हुई थी। अब मैं वेदके अपने शब्दोंमें भिन्न २ देवताओंके असली संकेतके स्वरूपको आपके सामने रखता हुआ एक, परम तत्त्वका प्रतिपादन करूंगा। सुनिये,

(१) येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥८१॥

अथ० ११।८।७॥

अर्थः—(या) जो (इतः) इससे (पूर्वा) पहिली (भूमिः) भूमि (आसीत्) थी; (यां) जिसे (अद्धातयः) सच्चे विद्वान् (इत्) ही (विदुः) जानते हैं। (यः) जो (वै) सचमुच (तां) उसे (नामथा) नामसे (विद्यात्) जान सकेगा; (सः) वह (पुराणवित्) पुरानी विद्याको जाननेवाला (मन्येत) समझा जावेगा ॥८१॥

जिस प्रकरणसे यह मंत्र लिया गया है, वहांपर इससे पूर्व छः मन्त्र और हैं। उनमें इस अद्भुत, विशाल विश्व-रचनाके आदि कारणका विवेचन किया गया है। वहां पर परब्रह्मको मुख्य कारण बताते हुये, उसके संकल्प तथा इच्छादि गुणोंकी ओर इशारा किया है। साथ ही, तप और कर्मका सहयोग बताया है। इन्द्रादि देवताओंकी उत्पत्तिसे पूर्वकी अवस्थाका वर्णन करते हुये इस मन्त्रद्वारा सब पदार्थोंके परमाधार ब्रह्मको 'पूर्वा भूमि' कहा है। सच्चे विद्वान् सब आधिभौतिक देवताओं तथा आध्यात्मिक तप, कर्म तथा अन्य भावोंका परम कारण, मूल आधार

जिसे मानते हैं, उसे कोई व्यक्ति नामसे वस्तुतः जान नहीं सकता। नाम विशेषणका वाचक होता है। विशेषण परिच्छेदका कारण होता है। अतः जो पदार्थ सब विशेषणों और परिच्छेदोंसे ऊपर हो, उसका पूरा नाम कोई नहीं हो सकता। हां, ओम्के समान उसका कोई संकेत ठहराया जासकता है। उस अवस्थामें उस संकेतद्वारा सब गुणों, सब बलों, सब प्रकाशों तथा सब सद्भावोंकी सूचना प्राप्त होगी। पर वह किसी विशेष गुण, बल, प्रकाश या सद्भावका वाचक न होना चाहिये। उस परम कारणके विषयमें केवल 'वह है' यह भाव ही जागृत किया जासकता है। इससे अधिक उसका वर्णनगोचर होसकना असंभव है। जो उसके नामके इस रहस्यको जानता है, वह पुराणको जानता है। सब पुराणोंका पुराण वह स्वयं भगवान् है। वह अखण्ड, एक ज्योति, कूटस्थ, नित्य होनेसे परिणामी जगत्के सब पदार्थोंसे अधिक पुराना है। इसके आगे दो मन्त्रोंमें प्रश्नपूर्वक उसके इन्द्रादि नामोंका रहस्य भी कह दिया गया है।

(२) कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत ॥८२॥ ०—८॥

(३) इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥८३॥ ०—९॥

अर्थः—(कुतः) कहांसे (इन्द्रः) इन्द्र (कुतः) कहांसे (सोमः) सोम (कुतः) कहांसे (अग्निः) अग्नि (अजायत) प्रकट हुआ। (कुतः) कहांसे (त्वष्टा) त्वष्टा [=निर्माण करनेवाला] (सम्-अभ-

वत्) बना (कुतः) कहांसे (धाता) (अजायत) प्रकट हुआ ॥८२॥ (इन्द्रात्) इन्द्रसे (इन्द्रः) इन्द्र (सोमात्) सोमसे (सोमः) सोम (अग्नेः) अग्निसे (अग्निः) अग्नि (अजायत) प्रकट हुआ। (ह) निश्चय करके (त्वष्टा) (त्वष्टुः) त्वष्टासे (जज्ञे) प्रकट हुआ (धातुः) धातासे (धाता) (अजायत) प्रकट हुआ ॥८३॥

प्यारो, यहां आधिभौतिकसे आध्यात्मिकके संक्रमका वैदिक रहस्य खुल रहा है। सूक्ष्मदर्शी भक्त इन्द्रादि भौतिक पदार्थोंमें पाई जानेवाली महिमाको उनके अन्दर बसनेवाले परमपुरुषकी विभूति समझता है। वह कहता है, इस इन्द्रमें असली 'इन्द्र' वह है। इस सोममें असली 'सोम' वह है। इस अग्निमें असली 'अग्नि' वह है। उस परम ज्योतिसे अब वह प्रत्येक पदार्थको ज्योतिष्मान् होता हुआ देखता है। अब वह इन्द्रके सामने खड़ा होकर असली इन्द्रको बुलाता है। अब वह भौतिक पदार्थोंकी स्तुति नहीं कर रहा, हां उनके जीवनरूप भगवान्का उस २ नाम द्वारा उपस्थान कर रहा है। समय आने वाला है जब उसकी यह मति परिपक्व हो जावेगी। वह अणु २ में रम रहे 'राम' को देखकर हैरान होगा कि 'अब मैं अपने प्रियतमको किस नामसे बुलाऊं' नहीं, अब वह बुलायेगा नहीं, अब वह उस अमृतरूप प्रेम-रसको पीकर ध्यानारूढ होगा। अब वह चुप होगा, पर उसके हृदयमें अलक्ष्य अर्थका अथाह सागर ठाठें मार रहा होगा। उससे कोई पूछेगा, तो वह क्या बतावेगा? बस, इतना ही जितना कि वेदने इशारा कर दिया है। जब सब नामोंकी व्याख्या कर चुकेगा, तो कह देगा कि

'वस्तुतः' सब नाम तथा रूप उसमें हैं, उसीके द्वारा हैं, उसके हैं, पर वह है इनसे न्यारा। वह एक है, अखण्ड है। वह अनाम है, वह अरूप है। 'वह' 'यह' किया जासकता है, पर 'वह' बताया नहीं जासकता। लोग उसकी बातोंको कुच्छ समझेंगे और कुच्छ न समझेंगे। कोई उसे पागल कहेगा और कोई वेदके अनुसार उसे 'पुराणवित्' कहेगा।

सत्य०—महाराज, कई लोगोंका विचार है कि अथर्ववेद पीछेका है और ऋग्वेद सर्व-प्रथम है। क्या ऋग्वेदमें भी उस एक अखण्ड तत्त्वका कोई इशारा पाया जाता है?

महा०—हां, सुनिये। पहिले अर्थ कहकर भाव-व्याख्या पीछे करूंगा।

(४) चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते। तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्॥ ८४॥ ऋ० १०।११४।३॥

अर्थः-[जो] (चतुः-कपर्दा) चार मेढियों वाली (सु-पेशाः) सुन्दर रूपवाली (घृत-प्रतीका) उज्ज्वल मुख वाली (युवतिः) युवती (वयुनानि) [विश्वकी] बुनतको (वस्ते) ढांपती [=उपादान कारण-रूप] है; (यत्र) जिसमें (देवाः) देवता (भागधेयं) [अपने २] भागको (दधिरे) धारण करते हैं, (तस्यां) उसपर [दो] (वृषणा) जुवान (सु-पर्णा) अच्छी पहुँच वाले (नि-सेदतुः) बैठे हैं॥ ८४॥

(५) एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे। तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम्॥ ८५॥ ०—४॥

अर्थः—[उनमें से] (सः) वह (एकः) एक (सुपर्णः) अच्छी पहुँच वाला (समुद्रं) समुद्रमें (आ-विवेश) घुसता है; (सः) वह (इदं) इस (विश्वं) सगरे (भुवनं) जगत्को (वि-चष्टे) भले प्रकार देखता है। (तं) उसे (पाकेन) पके हुए (मनसा) मन द्वारा (अन्तितः) समीपसे (अपश्यम्) देखता हूं; (तं) उसे (माता) (रेलिह) चाटती है (उ) और (सः) वह (मातरं) माताको (रेलिह) चाटता है॥ ८५॥

(६) सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश॥ ८६॥ ०—५॥

अर्थ—(विप्राः) विद्वान् (कवयः) भक्तजन [उस] (सुपर्णं) अच्छी पहुँच वालेको [जो वस्तुतः] (एकं) एक (सन्तं) है (बहुधा) बहुत प्रकारसे (वचोभिः) वचनों द्वारा (कल्पयन्ति) वर्णन करते हैं। (च) और [उसके गुणगानकेलिये] (छन्दांसि) छन्दोंको (दधतः) धारण करते हुए (अध्वरेषु) यज्ञोंमें (सोमस्य) सोमको [आहुतिकेलिये] (द्वादश) बारह [धारण करने वाले] (ग्रहान्) पात्रविशेषोंको (मिमते) बनाते हैं॥ ८६॥

(७) सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत्। सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥ ८७॥ ०—८॥

अर्थ—(सहस्रधा) हज़ार वार (पञ्चदशानि) पंद्रह (उक्था) स्तोत्र [हैं]; (यावत्) जहां तक (द्यावा-पृथिवी) द्युलोक और भूलोक

[हैं] (तावत्) वहां तक (इत्) बराबर (तत्) 'वह' [है]। (महिमानः) महिमाएं (सहस्रधा) सहस्रों वार (सहस्रं) हजारों [हैं]; (यावत्) जहां तक (ब्रह्म) स्तोत्र (वि-स्थितं) फैल सकता है (तावती) वहां तक (वाक्) वाणी [फैलती है] ॥ ८७ ॥

इन चार मन्त्रोंमें सृष्टिविद्या तथा भगवत्-स्वरूपके विषयमें अति गूढ संकेत पाये जाते हैं। अब मैं उन्हें क्रमसे कहता हूँ। प्यारो, वह सुन्दरी, रूपवती, युवती कौनसी है ? वस्तुतः वह संसार मायाकी आधारभूत, मूलप्रकृति ही होगी। उसीमें आधि-भौतिक देवतागण, सूर्य, चन्द्रादि अपने २ भागको प्राप्त कररहे हैं। उसी एक प्रधानकारणके परिणाम विशेष भांति २ के दिव्य रूपोंमें प्रकाशमान होरहे हैं। उसीमें आध्यात्मिक देवतागण, नेत्रादि ज्ञाने-न्द्रिय, हाथ आदि कर्मेन्द्रिय, प्राणादि मुख्यप्राण तथा मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण अपने २ स्वरूपभूत भागको प्राप्त कररहे हैं। प्रत्येक इन्द्रियका मूल प्रकृतिके साथ विशेष पारिणामिक तात्त्विक कार्य-कारणरूप संबंध है। वही मूल उपादान कारणरूप युवती चार मेढियों अर्थात बाल-गुम्फोंसे सुभूषित है। चारों दिशाओंमें उसके कार्यों का विस्तार पाया जाता है। जैसे किसी सुन्दरीने अपने सिरके बालोंको चार विभागोंमें गूंथ रक्खा हो, वैसेही उस मूल माया-मयी शक्तिके तैजस, वायव्य, जलीय तथा पार्थिव विभागोंमें अनन्त विस्तार पाये जाते हैं। उसके ऊपर जीव और परमात्मारूपी दो जुवान, मानो, वश पाए हुए हैं। उनमेंसे एक 'सुपर्ण' अर्थात् व्यापक तत्त्व समुद्रमें घुसरहा है। अनन्त प्रकारका कार्यात्मक

जगत् नानाविध प्रवाहोंका आधार होनेसे 'समुद्र' कहा गया है। वह अखण्ड, एक ज्योति इसमें सर्वत्र व्यापक है । इसीसे वह प्रभु एकसाथ सगरे ब्रह्माण्डको देख लेता है। वह दूर भी है और समीप भी है। पर समीपवर्ती अर्थात् आध्यात्मिक साक्षात्कारके भावसे उसका दर्शन निरन्तर अभ्यासशील मनद्वारा ही होसकता है। वह बाहरके स्थूल साधनोंसे साक्षात् नहीं किया जासकता। जब अन्दरकी सूक्ष्म, दिव्य दृष्टिसे वह जान लिया जाता है,तो वह इस सारी मायामें ओत प्रोत होता हुआ भासता है। यह जगन्निर्मात्री, मूलप्रकृतिरूपी माता उसे चाटती और प्यार करती है और वह इसे चाटता और प्यार करता है। दोनों परस्पर सम्बद्ध होरहे हैं। विद्वान्, भक्तजन जानते हैं कि वह सर्वत्रव्यापक जगदीश्वर एक अविभक्त, अखण्ड है। पर फिर भी पूजाके सौकर्य तथा बोधकी सुगमताके अभिप्रायसे वे उसका अनेक नामों तथा प्रकारोंद्वारा वाचिक निरूपण करते हैं। वे नाना प्रकारके छन्दोंद्वारा भक्तिरसके प्रवाहको बहाते हुए उसीके स्तोत्र गाते हैं । वे सोमयज्ञोंके विस्तारद्वारा उसी एक, अलक्ष्य तत्त्वकी आराधना करते हैं। सोमयाग यज्ञोंमें मुख्य समझा गया है। मुख्यके साथ गौणका भी ग्रहण हो जाता है। सोम जिन पात्रोंमें डालकर होमा जाता है, वे 'ग्रह' कहलाते हैं, वे 'उपांशु, अन्तर्याम' आदि भेदसे बारह होते हैं मुख्य यागकी ओर पूरा संकेत करता हुआ वेद भगवान् स्पष्टरूपसे कहता हुआ प्रतीत होता है कि समग्र कर्मकाण्डका इष्ट, आराध्य देव 'वह' एक, अखण्ड, ज्योतिर्मय तत्त्व ही है । उसीके भिन्न २ स्वरूपांशोंको इन्द्रादि नामों द्वारा आराधा जाता है। यज्ञोंको उस

एक तत्त्वका सूचक समझ कर ही मनुष्य उनके द्वारा मोक्षको प्राप्त होसकता है। ऐसा न समझता हुआ कर्मकाण्डी संसार-बन्धनसे छूट नहीं सकता। यही भाव पीछे आकर वेदान्तमें विस्तारको प्राप्त हुआ। इसका मूल वेदमें स्पष्ट विद्यमान है। अन्तिम मन्त्र सारे स्तोत्रोंका ध्येय उसी एक तत्त्वको बताता है। पंद्रह हज़ार स्तोत्रोंका विषय 'वह एक' है। इस समय ऋग्वेदमें दस हज़ारसे कुच्छ ऊपर स्तोत्र हैं। ऋषिका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि समग्र स्तोत्रमय वेदका नाना नामों द्वारा इशारा उसी एककी ओर है। पर इसका यह भाव नहीं है कि उसकी पूरी स्तुति हो चुकी। जितना लोक और परलोक अर्थात् सकल ब्रह्माण्डका विस्तार है, उतना ही 'वह' है। अर्थात् उसका इतना विस्तृत वर्णन करना मानुष शक्तिसे बाहर है उसकी महिमाओंके हज़ारों हज़ारोंकी कोई गिनती नहीं। एक २ महिमात्मक स्वरूपको कई शब्दोंद्वारा प्रकट करते हैं। इसलिये उसके सब स्वरूपोंको प्रथम तो हम जान ही नहीं रहे, और जो कुच्छ जानते भी हैं, उसे पूरा २ वर्णन नहीं कर सकते। हां, हमारी आराधना-शक्ति जितना स्तुतिका विस्तार करती जाती है, उतना ही वाणी साथ २ फैलती जाती है। अर्थात् भक्त लोग उस एक लक्ष्यको जितने प्रकारसे गाते हैं, उतने ही 'उस'के वाचक या संकेतक शब्द भी बढ़ जाते हैं। पर यह निश्चित बात है कि वह एक है। उसके नाम और रूप अनेक हैं और मानवी बुद्धिकी कल्पनाके फल हैं। सच पूछो तो उस एकके अनेक नाम उसके विषयमें हमारी अपनी असमर्थताके सूचक हैं। प्यारो, इस प्रकार मैंने आपके कथनानुसार ऋग्वेदके इन चार मन्त्रोंका बड़ा संक्षिप्त भावानुवाद किया है।

सदा०—महाराज, वैदिक यज्ञका परम लक्ष्य 'वह' एक तत्त्व है। इसका संकेत ऋग्वेदमें कहीं और भी पाया जाता है? आधुनिक विवेचकोंने ऋग्वेदके दूसरेसे लेकर आठवें मण्डल तकके भागको प्राचीनतम माना है। क्या उसमें भी कहीं ऐसा इशारा पाया जाता है?

महा०—बेटा, ऋग्वेदके भिन्न २ भागोंका भले ही परस्पर विवेक हो। पर ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदादिकी अपेक्षा तो समूचा ऋग्वेद सभीकी परिभाषामें प्राचीनतर है। इसलिये पूर्व कहे प्रकारसे इस बातकी पुष्टि हो चुकी है कि ऋग्वेदके अन्दर ऐसे संकेत पाये जाते हैं जो उस एक, अखण्ड ज्योतिके सूचक समझे जा सकते हैं। पीछे ऋषियोंने अधिक स्पष्ट शब्दोंमें उसी मूल संकेतका विस्तार किया है। इस विषयमें आज तक कोई नयी खोज नहीं होसकी। उसी पुरानी बातको लोग नये २ रंगमें रंगते चले आ रहे हैं। इसीलिये उस तत्त्वके जाननेवालेको अथर्ववेदने 'पुराणवित्' कहा था। अब मैं आपके संतोषकेलिये 'बालखिल्य' सूक्तोंमेंसे दो मन्त्र रखूंगा। ये सूक्त आठवें मण्डलके अन्तर्गत समझे गये हैं और ये मण्डलोंके विभागादि पीछे ही कल्पित हुए होंगे। इससे मन्त्रोंकी नवीनताकी निर्विवाद पुष्टि नहीं की जासकती। अस्तु, अभी हमें अपने प्रकरणको ही सामने रखना चाहिये। इन बातोंपर फिर विचार होता रहेगा। सुनिये,

(८) यमृत्वजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति। यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत्का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित् ॥८८॥ ऋ० ८।५८।१॥

अर्थः—(यं) जिस (इमं) इस (यज्ञं) यज्ञको (बहुधा) कई प्रकारसे [परम बोधार्थ] (कल्पयन्तः) कल्पना करते हुये (सचेतसः) बुद्धिमान् (ऋत्विजः) ऋत्विज (वहन्ति) धारण करते हैं। (यः) जो [=जहां] (अनुचानः) तत्त्ववेदी (ब्राह्मणः) ब्राह्मण [ही] (युक्तः) युक्त [किया जाता] (आसीत्) है; (तत्र) उस [यज्ञ] में (यजमानस्य) यजमानकी (सं-वित्) मानसिक धारणा [तत्त्व-दृष्टि] (का-स्वित्) कैसी [होनी चाहिये] ॥८८॥

प्यारो, कर्मकाण्डके प्रकार अनेक हैं। देवता अनेक हैं। उनकी आहुतियां अनेक हैं। पर इस सारे विस्तारमें कोई एक सूत्र भी है। उसीके सहारे और उसीके उद्देश्यसे यह सारा कर्मचक्र ऋषिलोग घुमाते रहे हैं। यदि कर्म-चक्रके अधिष्ठाता, नायक, पुरोहित आदि तत्त्व-दर्शनसे शून्य होंगे, तो यजमानका सारा प्रयत्न निष्फल होगा। हां, यदि वे सावधान और परमदर्शी होंगे, तो अवश्य उसका बेड़ा पार होगा। योग्य, वैदिक रहस्योंके ज्ञाता ब्राह्मणोंके अधिष्ठानमें यज्ञ करते हुये यजमानको उस अनेकतामें वर्तमान एक सूत्रका परिचय होसकेगा। उसकी धारणा तथा दृष्टिका अगले मंत्रद्वारा स्वरूप दिखाते हैं।

(९) एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः। एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥८९॥ ०—२॥

अर्थः—(एकः) एक (एव) ही (अग्निः) अग्नि (बहुधा) बहुत प्रकारसे (सम्-इद्धः) प्रकाशित [होता है]; (एकः) एक (सूर्यः) सूर्य

(विश्वं) ब्रह्माण्ड (अनु) में (प्रभूतः) प्रतापी [होता है]। (एका) एक (एव) ही (उषाः) उषा (इदं) इस (सर्वं) सब [जगत्] को (वि-भाति) खूब प्रकाशित करती है; (एकं) एक [ही] (वै) सचमुच (इदं) यह (सर्वं) सब (वि-बभूव) नाना प्रकारसे होरहा है [अथवा, बना रहा है] ॥८९॥

यजमानको चाहिये कि अपना इष्ट 'उस एक' अखण्ड ज्योतिको ही सदा समझे जो अनन्त रूपोंमें प्रतिरूप होरहा है। जैसे साधारण भौतिक अग्नि गृह्य, यज्ञिय, दावानल, वडवानल, जठरानल, श्मशानानल, आदि भेदोंसे अनेक होजाता है, पर वस्तुतः वह एक ही रहता है। सूर्य एक है, पर अनेक पदार्थों पर पड़ कर प्रतिफलित होकर अनेक प्रकारसे प्रतिभासित होता है। उषा एक है, पर उसके प्रकाशसे कौन वस्तु है जो उज्ज्वल नहीं होजाती? ठीक ऐसे ही, नहीं, इससे अनन्त गुण अधिक यह एकताका सूत्र उस एक, अखण्ड ज्योतिके विषयमें मौजूद समझना चाहिये। कोई रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द नहीं, जिसमें 'वह' न हो और जो 'उस' से न हो। ऋषियोंने केवल निदर्शनकेलिये कुच्छ प्रमुख देवता चुन लिये हैं। पर उनकी संख्या नियत नहीं है। वे तीन हैं, तीस हैं और तेंतीस कोटि हैं। वास्तव में परमाणु २ देवता है, क्योंकि आधिभौतिक ज्योतिका वह केन्द्र है। प्रत्येक पदार्थ इस प्रकारसे उस एक, अखण्ड ज्योतिका आधिदैविक अंश बन रहा है। मानो, वही एक सब अनेक बन रहा है। पर इस सारी प्रक्रियाके बोधके पश्चात् वैदिक आदर्श-धारणा यह होनी चाहिये कि वह एक है, वह एक है। वही सबका विधाता, वही सबका

स्वरूपप्रदाता है। पत्ते २ में उसकी हरियाली है। फूल २ पर उसकी रंगत है। वह सबमें है। सब कुच्छ उससे हैं। वही सब कुच्छ है, क्योंकि सब कुच्छ उसके बिना सच्चे यजमानकेलिये कुच्छ भी नहीं रहता। अब यजुर्वेदसे दो अति सरल और परिचित से मन्त्र सुनाकर इस प्रकरणको समाप्त कर दूंगा।

(१०) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥९०॥

यजु० ३२।१॥

अर्थः—(तत्) वह [एक, अखण्ड, ज्योति] (एव) ही (अग्निः) अग्नि [है]; (तत्) वह (आदित्यः) आदित्य [है]; (तत्) वह (वायुः) वायु [है], (उ) और (तत्) वह [ही] (चन्द्रमाः) चांद [है]। (तत्) वह (एव) ही (शुक्रं) बल [है]; (तत्) वह (ब्रह्म) ब्रह्म [है] (ताः) वे (आपः) जल [भी वही है]; (सः) वह (प्रजापतिः) प्रजापति [भी वही है] ॥९०॥

अग्नि, सूर्य, चांद, वायु और जलकी आधिभौतिक सृष्टि उसीसे है। उनकी आधिदैविक विभूति उसीकी है। जितना बल है, वह सब उसीसे है। वही सब प्रजाओंका पति है। सबका कारण, सब नामोंका वाच्य, परम पुरुष 'वह' भगवान् है।

(११) न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्द यशः। हिरण्यगर्भ इत्येषः । मा माहिंसीदित्येषा । यस्मान्न जात इत्येषः ॥९१॥ **०—३॥**

अर्थः—(तस्य) उसकी (प्रतिमा) उपमा [बराबरीकी वस्तु, मूर्त्ति आदि] (न) नहीं (अस्ति) है; (यस्य) जिसका (नाम) नाम (महत्)

महान् [यशः] यश है [=जिसके महान् यशको अनेक नामोंसे गाया जाता है]। (हिरण्यगर्भः इति) 'हिरण्यगर्भ' शब्दसे आरंभ होने वाला (एषः) यह [चार मन्त्रोंका अनुवाक], (मा मा हिंसीत् इति) 'मा मा हिंसीत्' इन शब्दोंसे आरंभ होने वाली (एषा) यह (ऋचा), (यस्मान्न जातः इति) 'यस्मान्न जातः' इन शब्दोंसे आरंभ होने वाला (एषः) यह [दो मन्त्रोंका अनुवाक उसीका प्रतिपादन करते हैं] ॥९१॥

प्यारो, यजुर्वेदने स्वयं यह निर्णय कर दिया है कि वह एक तत्त्व वस्तुतः अनाम और अनुपम है। हां, ऋषियोंने उसके आंशिक स्वरूपोंको मन्त्रोंमें गाया है। किसी मन्त्रका देवता इन्द्र है, किसी का वरुण है, किसीका प्रजापति है और किसीका कोई और। बुद्धिमान्को चाहिये कि सर्वत्र उसी एक, अखण्ड ज्योतिमें ही उन सब मन्त्रों और वैदिक स्तोत्रोंका तात्पर्य समझे। प्यारो, जब वेद भगवान् स्वयं स्पष्ट शब्दोंमें अपने प्रतिपाद्य परम तत्त्वका इस प्रकार संकेत कर रहा है, तो अब इसमें किसीको संदेह-ग्रस्त न होना चाहिये।

सदा०—महाराज, तो यह स्पष्ट बात हुई कि हमारे पूर्व पुरुषाओंने उपनिषदोंकी रचनासे पूर्व, साक्षात् वैदिककालमें ही उस एक अखण्ड ज्योतिका दर्शन कर लिया था। भगवन्, मैं अब तक बड़ी भूलमें पड़ा था। मैं वेदके प्रारम्भिक गौरवसे भली भान्ति परिचित न था। इस आपकी बतायी हुई, नयी प्रक्रियाके अनुसार अब वैदिक आध्यात्मिक गंगाके अनवरत प्रवाहको कुच्छ २ समझ गया हूं। अब तो सारा वेदान्त वेदका साक्षात् विषय ही जंचने लगा है।

महा०—सज्जनों, आपने निरन्तर इतने दिन एक ही विषयके पोषक प्रकरणोंको बड़े धैर्यसे सुना है। मुझे इस बातका हर्ष है कि यह प्रक्रिया आपने पसंद की है। मेरा विश्वास है कि इसके अधिक प्रचारसे वैदिक विद्या और भक्तिका गौरव बढ़ेगा। अब मैं दो प्रकरणोंमें वेद-प्रतिपादित अखण्ड ब्रह्मके सामान्य महिम-स्तोत्रोंका नमूना आपके सामने रखकर कुछ कालकेलिये इस सिलसिलेको छोड़ दूंगा। या, शायद चलता भी रहे। अस्तु, जो भगवान्‌को स्वीकार होगा।

नवम खण्ड।

सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता, सत्यस्वरूपता।

सत्य०—भगवन्, आज तो उस एक, अखण्ड, जगदीश्वरके सामान्य स्वरूपके प्रतिपादक मन्त्रोंकी ही व्याख्या करेंगे?

महा०—हां, बेटा, मैं अब कलके संकेतके अनुसार यही करूंगा। किसी प्रकारकी भूमिकाकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। ध्यान जमाकर वेद-रसका पान करें। सुनिये,

(१) विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥९२॥ यजु० ६।४॥

अर्थ:—[हे साधकवर्ग] (विष्णोः) सर्वव्यापक भगवान्‌के [उन] (कर्माणि) कर्मों [=बल प्रकाशों] को (पश्यत) देखो; (यतः) जिनके आधारपर [उसने] (व्रतानि) आधिभौतिक तथा

आधियाज्ञिक नियमोंको (पस्पशे) बांध रखा है। [वह] (इन्द्रस्य) इन्द्रका (युज्यः) योग्य (सखा) साथी [है] ॥९२॥

प्यारो, पूर्व कही प्रक्रियाके अनुसार 'विष्णु' चराचर जगत्की नियन्त्री अद्भुतशक्तिमयी विभूतिका वाचक है। विभक्त आधिदैविक कोटिमें सूर्यका ही रूपान्तर है। अविभक्त आध्यात्मिक कोटिमें 'उस' अखण्ड, सर्वज्योतिका वाचक होजाता है। उसीकी यह महिमा है कि उसके बांधे हुए सारे भौतिक तथा धार्मिक नियम अविचलितरूपसे सदा चलते हैं। इस विशाल, सुन्दर, सुक्रम विश्व-विस्तारका नियामक 'वह' है। धर्म सदा सुखप्रद और अधर्म सदा दुःखप्रद होता है, इस अभंग मर्यादाकी प्रतिष्ठा 'उसी' से होती है। सखण्ड अथवा विभक्त कोटिमें 'उस' की सब विभूतियां परस्पर सहायक और सब मिलकर 'उस' की मार्ग-प्रदर्शक होती हैं। केवल इन्द्र और विष्णुकी ही नहीं, वरन् सूर्य, सविता, मित्र, पूषा आदि और विष्णु, भग, रुद्र, वरुण आदिकी भी वैसी ही मित्रता है। दो का संकेत निदर्शनमात्र है। वस्तुतः 'उस' की सब विभूतियां सर्वत्र ओत प्रोत होरही हैं।

(२) तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥९३॥ ०—५॥

अर्थः—(इव) जैसे (दिवि) आकाशमें (चक्षुः) दृष्टि (आ-ततं) सब ओर विस्तृत [होकर बिना किसी कष्ट और रुकावटको अनुभव किये निकट और दूरवर्ती पदार्थोंको ग्रहण कर लेती है, वैसे ही] (सूरयः) [आध्यात्मिक प्रेरणाके धनी=]सुविद्वान् लोग (विष्णोः)

विष्णुके (तत्) उस [=पूर्व-कथित प्रसिद्ध' पर रहस्यमय] (परमं) परम (पदं) पदको (सदा) [=योगयुक्त तथा व्युत्थानकी दशाओंमें समानभाव तथा सहज स्वभावसे] (पश्यन्ति) देखते रहते हैं ॥९३॥

प्यारो, यह बाहरकी आंख निःसन्देह दूर और निकटके पदार्थोंका रूप दिखाती है। पर कब ? जब मार्गमें कोई ओट न हो । इस लिये वेदने आकाशकी ओर इसके विस्तारका वर्णन उपमामें डाल कर उसका गौरव बढ़ा दिया है। पर फिर भी इस दृष्टिकी एक सीमा आ जाती है जिसके अन्दर ही यह रूप-प्रदर्शन करा सकती है। पर योगयुक्त, महात्माओंकी दिव्य, अनुभवकी आंख प्रभुके वैभवको देखनेमें न किसी ओरसे परिचित है और न किसी सीमाको मानती है । वह सर्वत्र और सर्वदा उस भगवान्के अखण्ड शासनरूप परम पदका दर्शन करती हुई 'उस' के प्रसादकी भिखारन बनी रहती है । इसकेलिये ब्रह्म साक्षात् दर्शनका विषय होजाता है । उसकी परोक्षताकी समाप्ति हो लेती है। तात्पर्य यह है कि भगवद्-दर्शन साधकके साधनके अनुसार सर्वत्र और सर्वदा होसकता है । उसकेलिये विशेष तीर्थ और मन्दिर अथवा तिथि और नक्षत्रका विचार तथा आयास निरर्थक है। जहां जब और जो जीवनकी कमाई कर लेता है, उसे, वहीं और तब भगवान् अपने प्रत्यक्ष प्रसादका पात्र बना लेते हैं। इसलिये सच्चे भक्तोंको व्यर्थ बातोंसे मन हटाकर कर्त्तव्य कर्मकी ओर क़दम बढ़ाना चाहिये ।

(३) सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि । नैनमूर्ध्वं न तिर्य्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥९४॥ यजु० ३२।२॥

अर्थः—(सर्वे) सब (नि-मेषाः) गतियां [और सब] (वि-द्युतः) प्रकाश [उस अखण्ड ज्योतिस्वरूप] (पुरुषात्) पुरुषसे (अधि) पीछे [=उसके अधीन, उसकी आज्ञासे] (जज्ञिरे) प्रकट हुए। [पर] (एनं) इसे (न) [कोई] (ऊर्ध्वं) सीधा (न) (तिर्यञ्चं) तिरछा [और] (न) (मध्ये) बीचमें (परि-जग्रभत्) पूरी तरहसे पा सका॥९४॥

आंखकी झपकसे लेकर सौर जगत्की गति तक सब गतियां 'उसी' के इशारेसे होती हैं। जुगनुसे लेकर सूर्य तकके सब प्रकाश 'उसी'के चमकारे हैं। जिधर चलो, उधरही 'वह' व्याप रहा है। उसका कोई पारावार नहीं। उसका अन्त आज तक कोई नहीं पा सका। वह स्वतः अगम्य, अतर्क्य है, पर अपनी विभूतियोंसे भक्तजनोंको प्रेरता रहता है।

(४) एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥९५॥ ०—४॥

अर्थः—(एषः) यह (ह) ही (देवः) देव (सर्वाः) सब (प्रदिशः) प्रदेशों (अनु) में [व्याप रहा है]; [वह] (पूर्वः) पहिले (ह) ही (जातः) प्रकाशमान [होता है, और] (सः) वह (उ) ही (गर्भे) जन्मने वाले बालकके (अन्तः) अन्दर [होता है, जो कुच्छ] (जातः) हो चुका [है] (सः) वह (एव) ही [=उसी से है]; [जो कुच्छ] (जनिष्यमाणः) होने वाला [है] (सः) वह [=उससे है]; [वह] हे (जनाः) लोगो, (प्रति-अङ्) भीतरवर्ती [होता हुआ भी] (सर्वतः-मुखः) सब ओर मुख किये हुए (तिष्ठति) रहता है ॥९५॥

कोई देश, कोई प्रदेश ऐसा नहीं, जहां 'वह' न हो । भूत, भावी और वर्त्तमान, चराचर पदार्थों के अन्दर वह समान भावसे विराजता है। माताके गर्भमें बालकके हृदयमें भी उसका प्रकाश है। पर वह हृदयवासी ही नहीं, वह सर्वत्र, सब ओर देखने और विचरने वाला भी है।

(५) यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आ बभूव भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥९६॥ ०—५॥

अर्थः—(यस्मात्) जिससे (पुरा) पहिले (जातं) हो चुका हुआ (किञ्चन) कुछ (एव) भी (न) नहीं [है]; (यः) जिसने (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकोंको (आ-बभूव) पूर्णतया रचा है। (सः) वह (प्रजापतिः) प्रजाका मालिक [अपनी] (प्रजया) प्रजाके द्वारा (षोडशी) सोलह कला सम्पूर्ण [होता हुआ] (सम्-रराणः) खूब रमण करता हुआ (त्रीणि) तीन (ज्योतींषि) ज्योतियोंकी (सचते) [अपने भावसे] भावित करता है ॥९६॥

वह सब प्रजाका स्वामी है। प्रजाके सब पदार्थ वस्तुतः उसीके हैं। मन सहित छः ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और पांच प्राण प्रजाके हैं। उसीने वे दे रखे हैं। इसलिये वे उसीके हैं। वे ही उसके असंख्य पिण्डोंमें पायी जाने वाली सोलह कलाएं हैं । उनसे युक्त होकर प्रजाके रमणमें उसका रमण है। आंख देखती है। कान सुनता है। यह उसीकी विचित्र शक्तिका परिणाम है। मैं और आप उस पके हुए फलके केवल चखने वाले हैं। वह कैसे पकता है, इसमें हमारा

प्रवेश नहीं है । इसलिये हम संसारमें रमते हैं तो क्या रमते हैं ? न हमें इसके पूर्वका और न परका कुच्छ पता ही है । इसपर और अधिक यह कि मोहवश दलदलमें धंस कर न निकलते ही बनता है और न वहीं खड़ा रहनेमें कुच्छ असली रस आता है । असलमें रमता तो वही राम है, जो सब कुच्छ जानता है, सभी सोलह हों या सोलह हज़ार हों, कलाओंको घुमाता है, सब सुख, दुःखके कीचड़के बीचमें रहता है और फिर सर्वथा निःसंग, अस्पृष्ट और निर्लेप रहता है । वही भगवान् अग्निमें है । वही विद्युत्के प्रकाशमें है । वही आदित्यके प्रतापमें है । वह सब ज्योतियोंकी परम ज्योति है। वह सबमें है, सब कुच्छ है और सबसे न्यारा है ।

(६) वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येक-नीडम् । तस्मिन्निदᳪंसं च वि चैति सर्वᳪं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥९७॥ ०—८॥

अर्थः—(वेनः) विद्वान् (तत्) उसे (सत्) सद्रूप (गुहा) [बुद्धि की] कन्दरामें (नि-हितं) प्रतिष्ठित (पश्यत्) पाता है; (यत्र) जिस [=उस]में (विश्वं) [नानारूप] ब्रह्माण्ड (एक-नीडम्) समान भावसे समाश्रित (भवति) होरहा है । (इदं) यह (सर्व) सब (तस्मिन्) उसमें [प्रलयके समय] (सम्-एति) समा जाता है; (च) और [उससे ही सृष्टिके आरंभमें] (वि-एति) नानारूपोंमें [निकल] आता है; (सः) वह (वि-भूः) रूप २ में प्रतिरूप होने वाला (प्रजासु) प्रजाओंमें [पट-तन्तुओंके समान] (ओतः) ओत (च) और (प्रोतः) प्रोत [होरहा है] ॥९७॥

योगी उसे कैसे कहां पाते हैं ? इसका प्रथम पादने सुन्दर उत्तर दे दिया है। आगेके तीन पाद उसकी व्यापकताका बखान करते हैं। आपने भिन्न २ पक्षियोंके अलग २ घौंसले देखे हैं। वह भगवान् भी अनोखा घौंसला है जिसमें न केवल सारे पक्षी वरन् सारे चराचर पदार्थ आश्रयको प्राप्त होरहे हैं। शेष भाव भी बड़ा मनोहर और परिचित है।

(७) प्रतद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥९८॥ ०—९॥

अर्थः—(गन्धर्वः) गन्धर्व (विद्वान्) (नु) ही (तत्) उस (अमृतं) अमृतका (प्र-वोचेत्) अच्छी तरह वर्णन कर सकेगा; [वह] (विभृतं) नाना प्रकारसे भरा हुआ (धाम) आश्रय [होता हुआ] (गुहा) कन्दरामें (सत्) वर्तमान [है]; (अस्य) इनके (त्रीणि) तीन (पदानि) पांव (गुहा) गुफामें (नि-हितानि) धरे पड़े हैं, (यः) जो (तानि) उन्हें (वेद) जानता है (सः) वह (पितुः) पिताका (पिता) पिता [=परमगुरु] (असत्) होगा ॥९८॥

साधारण विद्वान् ब्रह्मज्ञानका अधिकारी नहीं होसकता। पूर्ण वैदिकविद्यारूपी गौको धारण करनेवाला, साक्षात्कारी ही उस परम सूक्ष्म तत्त्वका वर्णन करनेका साहस करसकता है जो एक ओर तो सूक्ष्म बुद्धि-तत्त्वसे भी सूक्ष्म होकर उसके बीचमें घुस रहा है और दूसरी ओर उसका इतना विस्तार है कि सब लोक, लोकान्तरोंका वह धाम अर्थात् आश्रय बन रहा है। प्यारो,

आश्चर्य है ! वह विशाल ब्रह्माण्डको अपने अन्दर लेकर इस बुद्धि-कन्दरामें प्रतिष्ठित होरहा है ! यह ठीक है कि साक्षात्कारी महात्मा जो कुच्छ कहेगा, यथार्थ कहेगा । पर उस तत्त्वका अन्त वह पा चुका है, यह बात नहीं है । बड़ी कठिनतासे उसका एक विभूतिमय चरण ही कुच्छ २ समझमें आता है । उसीका व्याख्यान भी हो सकता है । उसके आगे तो भक्त उस अथाह आनन्द सागरमें निमग्न होकर 'आनन्द, आनन्द' यही कहेगा, और तो कुच्छ न बता सकेगा । कोई कितना भी बड़ा सिद्ध पुरुष क्यों न हो, परम तत्त्वके पूरे परिच्छेदको तो वह नहीं जान सकता । प्यारो, सच बात तो यह है कि वह है ही सब परिच्छेदोंसे अतीत । कोई दौड़ लगावे भी, तो भी कहां तक ? जो उसको पूरा जान ले,वह परमगुरु, बापका बाप कहावे, पर वह तो स्वयं भगवान् ही होगा । और तो कोई उसके स्वरूपको पूरा क्या जान सकेगा ?

(८) स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥९९॥ ०—१०॥

अर्थ:—(यत्र) जिस (तृतीये) तीसरे (धामन्) धाममें (देवाः) देवता (अमृतं) अमृतको (आनशानाः) प्राप्त होते हुये (अधि-ऐरयन्त) ऊपर उठकर विचरते हैं ; (सः) वह [=तृतीय धाम स्वरूप, भगवान्] (नः) हमारा (बन्धुः) बन्धु [है], (जनिता) उत्पादक [है], (सः) वह (विधाता) [है] ; [वह] (विश्वा) सब (धामानि) धामों [और] (भुवनानि) लोकोंको (वेद) जानता है ॥९९॥

यह लोक एक धाम है, परलोक दूसरा धाम है। पर ब्रह्मधाम इनसे न्यारा ही है। इस लोकमें सुख और दुःख दोनों पाये जाते हैं। परलोकमें जो सुकर्मों का सुगतिरूप फल होता है, केवल सुख पाया जाता है। इसलिये उसे नाक अर्थात् दुःखरहित भी कहते हैं। पर ब्रह्मलोक या तृतीयधाम इन्द्रियगोचर, मर्यादा-वान्, दुःखस्मारक, सुखको भी हीन समझता है। वह तो आत्मैक गम्य, निरतिशय, आनन्दैकघन कहा गया है। उसे वासनावान् मनुष्य नहीं प्राप्त होसकते। वहां वासनातीत, आप्तकाम, निष्काम अमृतभोगी देवताओंका ही अधिकार है। जब तक साधारण एषणाओंसे ऊपर उठनेका सामर्थ्य मनुष्यमें पैदा नहीं होता, तब तक वह उस तृतीय धाममें विचरनेके योग्य नहीं होसकता।

(९) तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥१००॥ यजु० ४०।५॥

अर्थः—(तत्) वह [एक अखण्ड ज्योति] (एजति) गति करता है; (तत्) वह (न) नहीं (एजति) गति करता; (तत्) वह (दूरे) दूरी पर [है]; (उ) और (तत्) वह (अन्तिके) निकटमें [भी है]। तत्) वह (अस्य) इस (सर्वस्य) सबके (अन्तः) अन्दर [है]; (उ) और (तत्) वह (अस्य) इस (सर्वस्य) सबके बाहर [भी है] ॥१००॥

अभी मैंने आपका ध्यान तीसरे धामके अधिकारियों, एषणाओंसे मुक्त महात्माओंकी ओर दिलाया था। अगले मन्त्रमें ऐसे ही मोह,

शोकसे रहित होचुके सद्भक्तको जिस भगवान्‌से मधुर मिलन प्राप्त होता है, उसका स्वरूप बताते हैं।

(१०) स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरᳪं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥१०१॥   ०—८॥

अर्थ;—(सः) वह [एकत्वदर्शी उस भगवान्‌के चरणोंमें] (परि-अगात्) भले प्रकार पहुँच जाता है [जो] (शुक्रं) प्रकाशयुक्त (अकायं) शरीररहित [अत एव] (अव्रणं) फोड़े [आदि दोषों] से रहित (अ-स्नाविरं) स्नायुरहित (शुद्धं) शुद्ध (अ-पापविद्धं) पापसे अदूषित (कविः) सर्वविद्वान् (मनीषी) सत्यसंकल्प (परि-भूः) सर्वव्यापक (स्वयम्भूः) स्वतः सिद्ध [है, और जिसने] (शाश्वतीभ्यः) अनादि (समाभ्यः) वर्षों (=काल) से (याथातथ्यतः) ठीक २ [अर्थात्] पदार्थों का (वि-अदधात्) विधान कर रखा है ॥१०१॥

वह सर्व प्रकारके सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर तथा व्याधि, रोग आदिके बन्धन तथा दोषसे सदा मुक्त है। उसका सच्चा भक्त उसे सर्वत्र सर्वदा सर्वथा प्रकाशमान अनुभव करते हुए गुणदर्शी हो जाता है। उसकेलिये यह समझना असंभव होजाता है कि भगवान्‌ने कोई दुःख दुःखके भावसे बनाया है। उसे सगरी रचना की तहमें भगवान्‌की मंगल-कामना दीख पड़ती हैं। वह पूर्ण है, उसकी रचना भी पूर्ण है। यहां सब कुच्छ ठीक चला आता है और चला चलेगा।

(११) बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।
यस्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥१०२॥

अथ० ४।१६।१॥

अर्थ:—(देवाः) देवता (इदं) यह (सर्वं) सब (विदुः) जानते हैं [कि] (यः) जो [=यदि कोई] (स्तायन्) छिपता हुआ (चरन्) विचरना (मन्यते) सोचता है [तो] (एषां) इन [=लोक, लोकान्तरों अथवा देवों] का (बृहन्) महान् (अधिष्ठाता) शासन करने वाला (इव) मानो (अन्तिकात्) पाससे [होकर] (पश्यति) देख रहा होता है ॥१०२॥

प्यारो, यहांसे अब आपके सामने वरुण नामसे अखण्ड महा-प्रभुके महान् शासनका वर्णन करनेवाले एक अत्यन्त प्रभावशाली सूक्तके कुच्छ भागको रखूंगा। इस मन्त्रमें उसे सब देवों तथा लोकों का शासक तथा गुप्तसे गुप्त चेष्टाओंका जाननेवाला कहा है। इसी भावको आगे फैलाकर दिखाते हैं।

(१२) यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्। द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्द वेद वरुणस्तृतीयः ॥१०३॥ ०—२॥

अर्थ;—(यः) जो (तिष्ठति) खड़ा होता है, [जो] (चरति) चलता है, (च) और (यः) जो (वञ्चति) फेर देकर [=धोखेसे] चलता है, (यः) जो (निलायं) छिपकर [और] (यः) जो (प्रतङ्कम्) दबावके साथ (चरति) चलता है, [यह और] (यत्) जब (द्वौ) दो

(सं-नि-सद्य) मिल बैठ (मन्त्रयेते) सम्मति करते हैं (राजा) (वरुणः) वरुण (तृतीयः) तीसरा [=उनका समीपवर्ती] होकर (तत्) उस [सब बात] को (वेद) जानता है ॥१०३॥

कोई कुच्छ, कहीं और कैसे ही क्यों न करे, वरुण-महाप्रभु उस सबको ठीक २ जानता है।

(१३) उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता। उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥१०४॥ ०—३॥

अर्थः—(उत) और (इयं) यह (भूमिः) पृथिवी (उत) और (असौ) वह (दूरे, अन्ता) विस्तृत सिरोंवाला (बृहती) बड़ा (द्यौः) द्युलोक (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजाके [अधीन हैं] (उत-उ) और इसी प्रकार (समुद्रौ) दोनों [पार्थिव तथा अन्तरिक्षवर्ती] समुद्र (वरुणस्य) वरुणकी (कुक्षी) कोखों [के समान हैं]; (उत) तथा [वह इतना विशाल होता हुआ भी, सर्व व्यापक होनेसे] (अस्मिन्) इस (अल्पे) चुल्लू भर (उदके) पानीमें भी (निलीनः) छिपा हुआ है ॥१०४॥

(१४) उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः। दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥१०५॥ ०—४॥

अर्थः—(उत) और (यः) जो [=यदि कोई] (द्यां) द्युलोकको [भी] (अति) पार करके (परस्तात्) दूर (सर्पात्) चला जासके

[तो भी] (सः) वह (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजाके [अधिकारसे] (न) नहीं (मुच्याते) छूट सकता। (इदं) (अस्य) इसके (स्पशः) बांधने वाले [=सिपाही] (दिवः) द्युलोकसे [आ २ कर] (इदं) यह [=यहां] (प्र-चरन्ति) घूमते हैं; (सहस्र-अक्षाः) हजारों आंखों वाले (भूमिं) भूमिसे (अति) परे [भी सब कुच्छ] (पश्यन्ति) देखते हैं ॥१०५॥

वरुण महाराजका सर्वत्र साम्राज्य है। यदि कोई चाहे कि मैं पाप भी करूं और उसके दुःखरूप परिणामसे भी बच जाऊं, तो यह नहीं होसकेगा। वरुण राजासे भागकर वह कहां जावेगा ? पृथिवीपर, द्युलोकमें और उससे भी परे, सब जगह वरुणका राज्य है। उसका पूर्ण ज्ञान सब घटनाओंसे ऐसे ही परिचित रहता है, जैसे, मानो, उसके गुप्तचर सब जगह फिरते हों।

(१५) सर्वं तद् राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्। संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ॥१०६॥ ०—५॥

अर्थः—(यत्) जो [कुच्छ] (रोदसी) भूमि और आकाशके (अन्तरा) बीचमें [और] (यत्) जो [इससे भी] (परस्तात्) परे [है] (तत्) उस (सर्वं) सबको (राजा) (वरुणः) वरुण (वि-चष्टे) अच्छी तरह देखता है। [कहां तक कहें] (जनानां) लोगोंकी (निमिषः) [आंखों की] झपकें [भी] (अस्य) इसकी (सं-ख्याता) गिनी हुई हैं; (इव) जैसे (श्वघ्नी) जुआरिया (अक्षान्) पासोंको (नि-मिनोति) हिसाबसे फेंकता है [वैसे ही वरुण] (तानि) उन

[सब वस्तुओं] को [मर्यादा के अन्दर रखता तथा फेंकता है] ॥ १०६ ॥

यह उसीको पता है कि किस समय कौनसी चालसे जगत्‌का हित होगा। सच पूछो तो हम सब उसके इस संसाररूपी शतरञ्जकी खेलकी गोटें हैं। जिसे जहां ठीक समझता है, वह रख देता है, अब एक मन्त्रसे अग्नि-महाप्रभुके अखण्ड शासनका वर्णन करके एक और अति गौरवयुक्त सूक्तका कुच्छ भाग आपके सामने रखूँगा। उसमें इन्द्र-महाप्रभुका अखण्ड कोटिमें अद्भुत संकेत पाया जाता है।

(१६) अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति ॥१०७॥ अथ० ६।३६।३॥

अर्थः—(अग्निः) अग्नि (परेषु) दूर [से दूर] (धामसु) लोकोंमें (भूतस्य) जो कुछ होचुका है उसका [और] (भव्यस्य) जो होना है उसका (कामः) अभीष्ट-साधक (एकः) अद्वितीय (सम्राट्) (विराजति) प्रकाशमान होता है ॥१०७॥

भौतिक तथा सखण्ड आधिदैविक अग्नि केवल पृथिवीपर अधिकार रखती हैं पर अखण्ड, आध्यात्मिक अग्नि सर्वत्र व्यापक होती हुई, सब ज्योतियों की ज्योति है। प्रत्येक भूत और भावी अभीष्ट-सिद्धिका करने करानेवाला वह स्वयं है। वह एक, अद्वितीय, सबके ऊपर सम्राट् है।

सदा०—भगवन्, यह क्योंकर जाना जासकता है कि अमुक मन्त्रमें किस कोटिके देवताका संकेत है।

महा०—जहां किसी देवताका भौतिक संकेत साथ जुड़ा हो, वहांपर उसे सखण्ड आधिदैविक कोटिके अन्दर ग्रहण करना होगा। जहांपर विशेष भौतिक संकेत न पाया जाता हो, वहांपर अखण्ड कोटिका प्रकरण समझना चाहिये। प्रायः शुद्ध आधिभौतिकसे लेकर शुद्ध आध्यात्मिक पर्यंत कोटियोंका क्रम प्रत्येकसूक्तमें देखा जासकता है। इसका कारण मनुष्य-बुद्धिकी क्रमबद्ध प्रगतिका विचार ही समझा जासकता है। विशुद्ध अखण्ड आध्यात्मिक कोटिके मन्त्र प्राप्त करने योग्य आदर्शके सूचक हैं। केवल भौतिक वर्णन करनेवाले मन्त्रोंमें 'देवता' उन मन्त्रोंके विषयोंका सूचक है। आत्मोन्नतिमें साधन, चेतन्यविशिष्ट आधिदैविक भावका वहांपर समावेश नहीं है। जैसे नदी आदि पदार्थोंके वर्णन पाये जाते हैं। जब उन्हींमें चेतनताका समावेश करके देखा जाता है, तो वे देवतापदके असली अर्थको देनेवाले होकर पूर्व-संकेतानुसार कोटि-क्रमसे अखण्ड, एक, तत्त्वतक पहुँचानेवाले होजाते हैं। सार यह कि देवताका मुख्य स्वरूप आध्यात्मिक है। अब मैं जो सूक्त आपको सुनाने लगा हूं उसमें इसी भावके अनुसार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक कोटियोंका संमिश्रण मिलता है। अस्तु, सुनिये,

(१७) यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्। यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥१०८॥ ऋ० २।१२।१॥

अर्थः—(यः) जो (जातः) प्रकट होता हुआ [=स्वभाव से] (एव) ही (प्रथमः) श्रेष्ठ (देवः) देव (मनस्वान्) दृढ़ संकल्पवाला

(क्रतुना) बुद्धि तथा पराक्रमद्वारा [शेष] (देवान्) देवोंको (परि-अभूषत्) मात कर देता है। (यस्य) जिसके (शुष्मात्) सुखा देने वाले [बल] से (रोदसी) भूमि और आकाश (अभ्यसेताम्) काँपते हैं, हे (जनासः) लोगो, (नृम्णस्य) शक्तिकी (मह्ना) अधिकता [के कारण] से (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [=ईश्वर कहलाता है] ॥१०८॥

तत्त्वकी दृष्टिसे इन्द्र शेष देवोंसे अभिन्न है, क्योंकि वे सारे ही अखण्ड ज्योतिके चमत्काररूप हैं। परन्तु विभक्त कोटिके उपचारसे प्रत्येक देवता भिन्न २ विभूतिका प्रकाशक है। किसीका विचार करते हुए भक्तके मानसिक नेत्रोंके सामने भौतिक प्रतिभासके कारण शान्त, गम्भीर स्वरूपका चित्र आता है तो दूसरे किसीका ध्यान करनेसे उग्रता और तेजका प्रकाश होने लगता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सब सखण्ड आधिदैविक ज्योतियोंमें इन्द्रका तेज श्रेष्ठ और असह्य है। अन्य कोई देवता पराक्रममें उसकी पहुँच नहीं पहुँच सकता। ज्यों ही इन्द्रका भाव प्रकट होता है, वीर्य और ओजकी, मानो सारे शरीरमें संक्रान्ति होने लगती है। आलस्य दूर भागता है। स्फूर्ति पैदा होती है। क्षात्र तेजका विकास होता है। उस वीरताके उद्गमको देखकर भूमि आकाश, मानो, थर्राने लगते हैं। वेद स्वयं लोगोंको सूचना देता है कि बल और पराक्रमकी प्रधानताको ही आधिदैविक परिभाषामें 'इन्द्र' नामसे पुकारते हैं। इस नाम और स्वरूपको अखण्ड कोटिमें ले जाकर जगदीश्वरके अनुपम बल और तेजका दर्शन होने लगता है।

भक्तकी दीनता दूर होती है और यशस्विताके लक्षणोंका उदय होने लगता है।

(१८) यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्। यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ॥१०९॥ ०—२॥

अर्थः—(यः) जिसने (व्यथमानां) कांपती हुई (पृथिवीं) पृथिवीको (अदृंहत्) दृढ किया है; (यः) जिसने (प्रकुपितान्) अति क्रोध युक्त (पर्वतान्) पर्वतोंको (अरम्णात्) शान्त कर रखा है। (यः) जिसने (वरीयः) अति विशाल (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्षको (वि-ममे) अच्छे प्रकार मापा है; (यः) जिसने (द्यां) द्युलोकको (अस्तभ्नात्) प्रतिष्ठित किया है, हे (जनासः) लोगो, (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र है ॥१०९॥

प्यारो, पृथिवीके गर्भमें उबलता हुआ द्रव पदार्थ मौजूद है। सूर्यसे पृथक् होकर यह पृथिवी शनैः २ ऊपरसे ठण्डी होती चली गयी है। अभी इसके अन्दर गरमी पायी जाती है। उसीके कारण कभी २ अब भी यह कांपने लगती है। ज्वालामुखी पर्वतोंमें अब भी कभी २ अन्दरके कोपका प्रकाश देखा जाता है। वह कोप भी कितना भयानक और नाशक होता है। थहलका मच जाता है। गांवके गांव उजाड़ होजाते हैं। यह प्रभुकी महिमाका ही एक चित्र है कि इस प्रकारके कोपसे भरे हुए पदार्थोंको उसने दृढ़ भूमि और स्थिर पर्वत बनाकर निवासके योग्य कर दिया है।

वस्तु०—महाराज, यह तो सब भौतिक सरदी, गरमीके नियमोंके

अनुसार अपने आप होरहा है ? इससे ईश्वरकी महिमा क्योंकर जानी जासकती है ?

महा०—प्यारे, ईश्वरीय जिज्ञासाका निरूपण करते हुए भगवान्में सारे भौतिक जगत्की प्रतिष्ठा कही गयी थी। उन्हीं इशारोंको पुनः स्मरण करो। भक्तकी दृष्टिमें जड भूत, कुच्छ नहीं कर रहे। जो कुच्छ होरहा है, प्रभुकी प्रेरणासे होरहा है। यह उसे ही ज्ञान होता है कि असंख्य प्राणियोंके आध्यात्मिक विकास तथा कर्मानुसार सुख, दुःखके उपभागकेलिये कहां कैसी भौतिक परि-स्थिति तथा सामग्रीकी आवश्यकता है। जहां जो कुच्छ पाया जाता है, वहां सब कुच्छ इसी ईश्वरीय दृष्टिकी प्रेरणासे पाया जाता है। भगवान्का भक्त पृथिवी और पर्वतोंकी महती सत्तासे ही नहीं, वरन साधारण लोगोंकी दृष्टिमें तुच्छ प्रतीत होने वाले घासके एक २ तिनकेमें भी ईश्वरीय महिममय हाथका खेल देखता है। अन्तरिक्ष लोककी हमारी दृष्टिमें भले ही कोई अवधि न हो। पर सर्वव्यापक प्रभुने उसके एक २ चप्पेको माप रखा है। वह कौन सा कोना है जहां वह न हो ? वह सब स्थानोंपर सबमें रम रहा है। सूर्य, चांद और नक्षत्रोंका जगत् भी आश्चर्यमय जगत् है। सब लोक, लोकान्तरोंका मर्यादानुसार स्थिति तथा गतिसे युक्त होना, प्रकाश पैदा करना और प्रकाशको प्रतिबिंबित करना इन्द्र महाप्रभुकी प्रेरणाका ही परिणाम है। जो अद्भुत शक्ति यह सारा खेल खेल सकती है, उसे ही इन्द्र नामसे ऋषियोंने अपने स्तोत्रोंमें प्रसिद्ध किया है।

(१९) यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा वलस्य । यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः ॥११०॥ ०—३॥

अर्थः—(यः) जिसने (अहिं) विघातक [मेघरूपी सर्प] को (हत्वा) मारकर (सप्त) सात (सिन्धून्) सागरोंको (अरिणात्) गतिमान् किया है; (यः) जिसने (वलस्य) ढांपने वाले [मेघ] के (अपधा) बाड़ेसे (गाः) गौओंको (उद्-आजत्) बाहर हांका है। (यः) जो (अश्मनोः) पत्थरों [=मेघ-खण्डों] के (अन्तः) मध्यमें (अग्निं) आग [=बिजुली]को (जजान) पैदा करता है; हे (जनासः) लोगो, (समत्सु) संग्रामोंमें (सं-वृक्) खूब काटने वाला (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र है ॥११०॥

प्यारे सज्जनो, इस मन्त्रके शब्दोंको समझानेकेलिये मैं थोड़े से क्षणोंमें इन्द्र-महाप्रभुके आधिभौतिक आधारकी संक्षिप्त व्याख्या कर देता हूं। उससे अनेक स्थल सरलतासे समझे समझाये जा सकेंगे। मध्यलोकका विस्मय जनक विस्तार हमारे जीवनके साथ घना संबन्ध रखता है। वर्षा ऋतुमें जीवनका रस चू २ कर पृथिवी माताको आनन्दित तथा कृतार्थ कर देता है। जब वह किसी सूखे वर्षमें ऊपर ही रुका रहता है, तो कोलाहल मच जाता है। ओषधियां, वनस्पतियां सूखने लगती हैं। भूमि नये बीजको धारण नहीं करती। कृषिका सर्वनाश होने लगता है। बेचारे किसान चातककी नाई ऊपरको मुख उठाये ताकते रहते हैं। नाना प्रकारकी व्याधियां लोगोंको आ घेरती हैं। वणज व्योपार भी मन्द पड़ जाता है।

हरियालीका नामो निशान मिट जाता है। जिधर देखो, धूली उड़ती है। अधिक क्या, जीवन निःसार प्रतीत होता है। अब इसी बातको कथाका रूप देकर यों कहते हैं। सूर्य और पृथिवीका विवाह होता है। पृथिवी जगत्‌की माता है और सूर्य पिता है। माताके अंग २ में प्रतापी स्वामीके सम्पर्कसे तेजका संचार होता है। रोम २ से स्वेद-विन्दुओंके रूपमें उसके जीवनका रस बाहर निकलता है। यह उस माताकी सन्तति है। पिता बड़े प्यारसे उसे अपनी ओर खींचता है। वह ऊपरको उठती हुई माताकी दृष्टिसे ओझल होजाती है। माता व्याकुल होजाती है। खाना पीना छोड़ देती है। अब पतिके संगसे नये जीवनके संचारमें उसकी रुचि नहीं रही। जब तक उसे पहिली सन्तानके पुनः दर्शन नहीं होते, वह कोई बात भी करनेको तय्यार नहीं होती। अब पतिकी समीपता जीवन तो क्या पैदा करेगी, उसे भूनती चली जाती है। पतिदेव व्याकुल हो उठते हैं। यह सच है उसने ही नवजात शिशुको माताकी गोदसे अपनी सुनहरी रश्मियों द्वारा अपनी ओर खींचा था। पर वह उसके पास नहीं पहुँचा था। उसे बीचमें ही किसी डाकूने घेरकर अपने हां रोक लिया था। पिताका तो अपने बहुत कामोंके कारण फिर इधर ध्यान ही न रहा था। पर माताकी इस व्याकुलताने उसके भी होश भुला दिये। वह उन्हीं कदमोंपर वापिस लौटा और तलाशमें लग गया। उसका प्रचण्ड प्रकाश उसके मार्गमें रुकावट था। चोरोंकी तलाशमें गुप्त नीतिका सहारा लेना होता है। आवश्यकता क्या नहीं कराती। सब जगतका

पिता मध्यलोकके राजाके पास गया और उससे प्रार्थना की कि 'मेरा कार्य करदो। मेरी सन्तान तुम्हारे राज्यमें गुम हो रही है। उसका पता निकालो। मैं तुम्हारे इलाकेके भेदोंको जानता नहीं हूं। मेरा तीव्र प्रकाश इस तलाशके काममें रुकावट भी डालता है। जो कुच्छ मेरे पास है, मैं उसे तुम्हारी भेएट करूंगा। जैसे भी हो मेरा यह काम कर दो।' इन्द्र मध्य लोकका राजा था। उसे यह सुनकर बड़ा क्रोध चढ़ा कि मेरे राज्यमें ऐसे डाकू भी रहते हैं जो दूसरोंका माल लाकर यहां दबा बैठते हैं और मेरे नामको भी, मानो, बट्टा लगाते हैं। उसने सूर्यको आश्वासन देकर अपने घर वापिस भेजा और शीघ्र ही कार्य कर देनेका वचन दिया। महीनों तलाशमें लगा रहा। सारा काम गुप्तरूपसे हुआ। पता तब लगा जब उसकी वीर सेनाने डाकुओंकी छावनीका घेरा डाल लिया और उन्हें मैदानमें निकलकर युद्ध करनेको ललकारा। सावनका आरम्भ हो चुका था। शत्रुदल भयभीत हो गया, शोकके काले वस्त्र पहनकर बाहिर निकल आया। हजारों योजनोंमें उसका विस्तृत मण्डल था। वृत्र, अहि, दानु, दास, दस्यु, शम्बर, वल, रौहिण आदि कितने ही उसके सेनापति थे। नाना प्रकारकी मायासे वे परिचित थे। कभी उठकर, कभी बैठकर, कभी सिकुडकर और कभी फैलकर वे लड़ते थे। कोई बरसों पर्वतोंमें छिपा रहता था और उसका पता ही न चलता था। इन्द्रसे बहुत भींकाभींकी भी इन्होंने की। पर उसने एक न सुनी। एक २ डाकूको ढूएढकर बाहर निकाला और अपने वज्रसे चकनाचूर कर दिया। डाकुओंके पहाड़ी दुर्गों को उसने

खोल दिया । जो पृथिवीकी रसीली सन्तति गुम रही थी, वह मिल गई । वह सावनके मेंहकी धाराओंके साथ फिर माताकी गोदमें जा पहुँची। माताने धन्यवाद किया, पिता प्रसन्न हुए । पर यह किसे पता था कि उनके भाग्यमें ऐसा ही सन्ताप प्रतिवर्ष बदा है । पर इन्द्र महाराजका कोटिशः धन्यवाद करना चाहिये कि जिसने उस दिनसे लेकर सदाकेलिये उनकी जल-वाष्परूप गुमी हुई सन्तानको ढूण्ढ देने और दबा रखनेवाले डाकुओंको नष्ट करते रहनेका व्रत ग्रहण कर रखा है । सारा वर्ष वह चुपचाप तलाश करता हुआ जब सावनके आरंभमें विजयी होनेवाला होता है, तब उसकी ओजस्वी सत्ताका हमें परिचय होता है । सच है, महापुरुष बातोंसे नहीं, कार्यसे ही अपना परिचय दिया करते हैं । प्यारो, यह है वेदका प्रसिद्ध देवता, इन्द्र और उसका प्रसिद्ध इन्द्र-वृत्र युद्ध । पृथ्वीपर वसनेवाली प्रजाके जीवनके साथ इस आधिभौतिक घटनाका गहरा सम्बन्ध है। इसीसे इसकी इतनी महिमा है। आजकी नागरिक, शिल्पशालाओंमें बन्द रहनेवाली प्रजाको इसमें कदाचित् वह स्वाभाविक रस प्रतीत न होसके, जो भूमिकी कमाई करनेवाले, कृषिप्रधान लोगोंको अनुभव होना चाहिये। पर वैदिक ऋषियोंकेलिये यह घटना असली जीवन-घटना थी । इसीलिये वे इस भौतिक उपचारको सीढ़ी बनाकर महामहिम अखण्ड ज्योतिस्वरूप भगवान्के द्वार तक जा पहुँचे। इन्द्र क्षात्र आदर्शके रूपमें जातीय नायक समझा गया । उसके स्तोत्रोंमें सच्ची वीरतामयी भक्तिका रस बह निकला । इस नित्य, भौतिक इतिहासके ऊपर आलंकारिक कविताका समुज्ज्वल वेष पहनाया गया । जल वाष्प

होकर ऊपर उठता है। मध्यलोकमें एक शक्ति तो ऐसी है जो उसे वहीं थामे रखना चाहती है। दूसरी प्रधानशक्ति उसे पुनः विसर्जित करती रहती है। भाव तो इतना ही है, पर इसका विस्तार कितना है? और, फिर वह विस्तार सच्चे काव्य रससे पूर्ण और चमत्कारी है। उसे पढ़ते हुए चित्तमें नाना रसोंका सात्त्विक संचार होता है। तत्त्वदर्शी चित्तको उस रसमें भगवद्भक्तिका रस मिल जाता है। इन्द्र भौतिक शक्ति है। पर केवल भौतिक शक्ति अपने आप यह सारा कार्य हमारे भले बुरेकेलिये नहीं कर सकती। यह चेतन चित्तकी चितवनका चमत्कार होना चाहिये। झट आंखें खुल जाती हैं। पूर्व कही प्रक्रियाके अनुसार केवल भौतिक कोटि आधिदैविक सखण्डमें और वह आध्यात्मिक अखण्डमें लीन हो जाती है। अब बिजुलीकी लसकमें और बादलकी कड़कमें भक्तको भौतिक नहीं, वरन् आध्यात्मिक इन्द्र-महाप्रभुका खेल दिखाई देता है। मैंने यह संक्षेपसे रहस्यको खोलनेका यत्न किया है ताकि शेष इन्द्र-विषयक मन्त्रोंको आप विना कष्टके अब समझ सकें। बात वही है, भाव वही है। पर रस अनोखा है, चमत्कार निराला है। इसलिये यहां पुनरुक्तिका दोष न समझना चाहिये।

इस मन्त्रमें जल-रोधक शत्रुको 'अहि' और 'वल' शब्दों और 'दास' से वर्णन किया है। 'अहि' का मुख्य भाव आघात पहुँचाना होता है। सर्पको भी इसी भावकी दृष्टिसे अहि कहा जाता है। 'वल' का और 'वृत्र' का भाव एक ही है, अर्थात् ढांपकर रोकलेने वाला। रुके हुये जल जब छोड़ दिये गये, तो, मानो, सात सागरोंकी

रोक उठा दी गई। वृष्टिकी धाराओंको 'वल' के गुप्त बाड़ेसे गौओं की नाईं बाहर हाँक देना भी बड़ा सुन्दर भाव है। काले २ मेघ ही शत्रुके पहाड़ी दुर्ग हैं। उनके टुकड़े २ करता हुआ, उनके अंदर बिजुलीकी आग पैदा करके, मानो, इन्द्र उनको जलाकर नष्ट कर देता है।

(२०) येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्ण-मधरं गुहाकः। श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥१११॥ ०—४॥

अर्थः—(येन) जिसने (इमा) इन (विश्वा) सब [लोकों] को (च्यवना) गतिशील (कृतानि) किया है, (यः) जिसने (दासं) 'दास' (वर्ण) वर्णको (अधरं) नीचे (गुहा) गढ़ेमें (अकः) धरा है। (यः) जो (अर्यः) स्वामी (लक्षं) लक्ष्य (जिगीवान्) जीत लेनेवाले (श्वघ्नी-इव) जुआरिये [अथवा शिकारी] की भान्ति (पुष्टानि) बलवर्धक [पदार्थों] को (आ-अदत्) धारण करता है, हे (जनासः) लोगो, (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र है ॥१११॥

'दास' शब्दसे यहां लूटनेवाले, दूसरेका धन दबानेवालेका भाव लेना है। जल पृथिवीका है और वृत्रादि उसे दबा बैठते हैं। इससे उन्हें दासवर्ण कहा है। वेदमें दो वर्णोंका ही स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। एक तो यही दास वर्ण, जिसे इन्द्र नीचे गढ़ेमें धकेल कर निरादृत करता रहता है। दूसरा आर्य वर्ण जो इन्द्रके समान दीन-दुःखमोचनमें लगा रहता है। इन्द्र पुष्टिके साधन, जलादिको शत्रुओंसे छीन लेता है जैसे शिकारी शिकारको या जीता हुआ जुआरिया बाज़ीको पकड़ लेता है।

(२१) यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्ती त्येनम्। सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥११२॥ ०—५॥

अर्थः—(यं) जिस (घोरं) उग्र स्वरूपके विषयमें [लोग] (पृच्छन्ति स्म) पूछते हैं (इति) कि (सः) वह (कुह) कहां है, (उत) और [यह भी] (एनं) इसके संबन्धमें (आहुः) कह देते हैं (इति) कि (एषः) यह (अस्ति) है [ही] (न) नहीं। (सः) वह (अर्यः) नाथ (इव) मानो (विजः) कांपती हुई (पुष्टीः) सम्पत्तियोंको (आ-मिनाति) खींच लेता है ; (अस्मै) इसके प्रति (श्रत्) श्रद्धाको (धत्त) धारण करो ; हे (जनासः) लोगो (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र है ॥१११॥

इन्द्र गुप्त है। अतः यह उग्रताका प्रकाश उसका है या केवल भौतिक खेल ही है ? लोकमें संदेह पैदा होजाता है । वेद श्रद्धाको पैदा करता हुआ केवल एक मार्मिक इशारा करता है। कौन है जो हाथ आई हुई सम्पत्तिको छोड़ना चाहता है । आयु, बल, धन, सम्पत्ति सभी चाहते हैं और सदाकेलिये चाहते हैं। पर अकस्मात् इन्हें कौन छीन लेता है। वह कौनसा हाथ है जिसके आगे कांपते हुए ये पदार्थ जा पड़ते हैं ? सच है वह हाथ गुप्त है। पर उससे इन्कार नहीं होसकता। वही जगन्नियामक इन्द्र है। उसे केवल वृष्टि बरसानेवाली भौतिक लीला ही मत जानो।

(२२) यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः। युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥११३॥ ०—६॥

अर्थः—(यः) जो (रध्रस्य) हीनका (यः) जो (कृशस्य) निर्बलका (यः) जो (नाधमानस्य) मांगते हुए (कीरेः) स्तुति गाने वाले (ब्रह्मणः) भक्तका (चोदिता) प्रेरक [और सहायक होता है]। (यः) जो (सु-शिप्रः) सुन्दर छबिवाला (युक्त-ग्राव्णः) जुड़े हुए पत्थरों वाले (सुत-सोमस्य) निकाले हुए सोम वाले [भक्त] का (अविता) रख-वाला [है], हे (जनासः) लोगो, (सः)वह (इन्द्रः) इन्द्र [है]॥११३॥

वह सबकी टेरको सुनता है। उसके द्वारका भिखारी कभी निराश नहीं होता। वह निर्धनोंका धन और निर्बलोंका बल है। स्तोत्रोंका लक्ष्य वह है, यज्ञोंका ध्येय वह है।

(२३) यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः। यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥११४॥ ०—७॥

अर्थः—(यस्य) जिसकी (प्र-दिशि) आज्ञामें (विश्वे) सारे (अश्वासः) घोड़े (गावः) गौएं (ग्रामाः) ग्राम [और] (रथासः) रथ [होते हैं]। (यः) जिसने (सूर्यं) सूर्यको, (यः) जिसने (उषसं) उषाको (जजान) पैदा किया है; (यः) जो (अपां) जल-प्रवाहोंका (नेता) नायक है, हे लोगो, वह इन्द्र है॥११४॥

(२४) यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः। समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥११५॥ ०—८॥

अर्थः—(यं) जिसे (परे) बड़े (अवरे) छोटे (उभया) दोनों (अमित्राः) मित्ररहित (संयती) लड़ते हुए(क्रन्दसी) बल [=सेनाएं

(वि-ह्वयेते) अलग २ पुकारते हैं; जिसे (समानं) एक (चित्) ही (रथं) रथपर (आ-तस्थिवांसा) बैठे हुए दो (नाना) भिन्न २ (हवेते) बुलाते हैं, हे लोगो, वह इन्द्र है ॥११५॥

दोनों पक्ष, सबल, निर्बल, रथी और सारथि सब अपने २ प्राणोंकी रक्षाकेलिये उसीकी आराधना करते हैं। जिनका कोई मित्र नहीं, वे भी उसे ही अपना मित्र समझते हैं। एक ही रथपर रथी और सारथि बैठे हैं। पर प्रत्येक इन्द्रको अपनी रक्षाकेलिये स्मरण करता है। कितनी मार्मिक बात कही है ?

(२५) यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते। यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥११६॥ ०—९॥

अर्थः—(यस्मात्) जिसके (ऋते) बिना (जनासः) लोग (न) नहीं (वि-जयन्ते) जीत सकते, (यं) जिसे (युध्यमानाः) लड़ते हुए [योधा] (अवसे) रक्षाकेलिये (हवन्ते) पुकारते हैं; (यः) जो (विश्वस्य) सबका (प्रतिमानं) मुक़ाबिला करनेवाला (यः) जो (अच्युत-च्युत्) न हिलनेवालोंको भी हिलादेनेवाला (बभूव) है, हे लोगो, वह इन्द्र है ॥११६॥

(२६) यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान। यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥११७॥ ०—१०॥

अर्थः—(यः) जो (शश्वतः) सब प्रकारके (महि) घोर (एनः) पाप (दधानान्) करनेवालोंको [इस प्रकार अचानक](शर्वा) वज्रसे

(जघान) मार डालता है [कि उन्हें] (अमन्यमानान्) पता तक भी नहीं लगता; (यः) जो (शर्धते) अहंकारीके प्रति [उसकी] (शृध्यां) डींगको (न) नहीं (अनु-ददाति) रहने देता ; (यः) जो (दस्योः) दस्युका (हन्ता) मार डालनेवाला है, हे लोगो, वह इन्द्र है ॥११७॥

कितना विशाल, उदग्र और घोर इन्द्र महाराजका शासन है। पापी अहंकारमें सोचता क्या है और होता क्या है? प्यारो, ऐसे महामहिमपर अदृष्टिगोचर भगवान्‌को भला कभी यह आवश्यकता होसकती है कि हमारी भान्ति शरीर धारण कर जन्म, मरणके बन्धनमें पड़े। सचमुच उसके भी भौतिक देहमें अवतरणकी लीलाको कल्पित करनेवालोंने अपने साथ उपहास किया है।

(२७) यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्व-विन्दत्। ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥११८॥ ०—११॥

अर्थ:—(यः) जो (पर्वतेषु) पर्वतोंमें (क्षियन्तं) निवास करते हुए (शम्बरं) शम्बरको (चत्वारिंश्यां) चालीसवें (शरदि) वर्षमें [भी जाकर] (अनु-अविन्दत्) पकड़ लेता है; (यः) जो (ओजाय-मानं) वीरता दिखाते हुए (अहिं) अहिको, [जो] (शयानं) सोते हुए (दानुं) दानुको (जघान) मार डालता है, हे लोगो, वह इन्द्र है ॥११८॥

पूर्व कहे प्रकारसे पार्थिव जलके रोकने, चुराने, घेरनेवाले मध्यलोकी चोर कई प्रकारके हैं। उनके ही तीन प्रकार यहां संकेतित किये गये हैं। जो पर्वतोंमें छिपकर जलको समेटकर पड़ा २ बरसोंके

पीछे बरसनेमें आता है, उसे 'शम्बर' अर्थात् ठण्डे बलवाला कहा है। इन्द्र भी उसका पीछा नहीं छोड़ता। अन्ततः उससे जलको निकाल कर ही रहता है। 'अहि' सर्पके समान सिर निकालता हुआ मुक़ाबिला करता है। वह काटनेको पड़ता है। 'दानु' नीचे स्थानोंमें दबा रहता है।

(२८) यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान् अवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून्। यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥११९॥ ०—१२॥

अर्थ :— (यः) जो (सप्त-रश्मिः) सात किरणोंवाला (वृषभः) वृष्टिकर्त्ता (तुविष्मान्) बलवान् (सप्त) सात (सिन्धून्) सिन्धुओंको (सर्तवे) बहनेकेलिये (अव-असृजत्) छोड़ता है, (यः) जो (वज्रबाहुः) वज्रवाली भुजावाला (द्यां) ऊपरको (आरोहन्तं) उठते हुए (रौहिणं) रौहिणको (अस्फुरत्) उड़ा देता है, हे लोगो, वह इन्द्र है ॥११९॥

इन्द्रकी सात किरणें उसके धनुषके सात रंगोंसे हैं। पहाड़ी स्थानोंपर 'रौहिण' का दृश्य ठीक २ देखनेमें आता है। अकस्मात् नीचेसे रुईके ढीले २ तोदोंके साथ बादल ऊपरको उठने लग जाते हैं। सारी धुन्ध ही धुन्ध होजाती है। समीपवर्ती पदार्थ भी अन्धकारमें दिखाई नहीं देते। इन्द्र महाराजका वज्र चलते ही पानी बरस कर सब साफ होजाता है।

(२९) द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते। यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥१२०॥ ०—१३॥

अर्थः—(अस्मै) इसके प्रति (द्यावा) आकाश (चित्) और (पृथिवी) पृथिवी (नमेते) झुकते हैं, (अस्य चित्) इसीके (शुष्मात्) बलसे (पर्वताः) पर्वत (भयन्ते) कांपते हैं, (यः) जो (सोमपाः) सोम पीने वाला (यः) जो (वज्रबाहुः) वज्रयुक्त भुजा वाला [और] (वज्रहस्तः) वज्रयुक्त हाथ वाला [भी] (निचितः) प्रसिद्ध है, हे लोगो, वह इन्द्र है ॥१२०॥

(३०) यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती। यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः॥१२१॥ ०—१४॥

अर्थः—(यः) जो (सुन्वतं) [सोमरस] निकालते हुएकी (अवति) रक्षा करता है, (यः) जो (पचन्तं) [पुरोडाश] पकाते हुएकी [रक्षा करता है]; (यः) जो (शंसन्तं) स्तुति करते हुएको [तथा] (यः) जो (शशमानं) उद्यमीको (ऊती) रक्षासे [युक्त करता है]; (यस्य) जिसके प्रति (ब्रह्म) स्तोत्र (यस्य) जिसके प्रति (सोमः) सोम (यस्य) जिसके प्रति (इदं) यह [संकल्प किया हुआ] (राधः) पुरोडाश अन्न (वर्धनं) बढ़ाने वाला है, हे लोगो, वह इन्द्र है ॥१२१॥

इन्द्र महाप्रभु अपने हर प्रकारके सच्चे भक्तकी भक्तिको ग्रहण कर लेता है और उसकी सब प्रकारसे रक्षा करता है। जिसके पास सोम होमनेका सामर्थ्य नहीं, वह अन्न भातसे उसके निमित्त होम करे या दान करे। उसके हृदयसे निकले हुए स्तोत्र तो सब गा सकते हैं। वह सबको आध्यात्मिक पथपर कुछ न कुछ पग धरते ही देखना चाहता है। अन्तिम मन्त्रमें उपसंहार करते हुए भगवान्‌की सत्य, अखण्ड मर्यादाके संकेत तथा सामाजिक भक्ति-

प्रचारको प्रार्थनाके साथ यह परम महत्त्वयुक्त सूक्त समाप्त होता है ।

(३१) यः सुन्वते यः पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः । वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमावदेम ॥१२२॥ ०—१५॥

अर्थः—(यः) जो [तुम] (सुन्वते) [सोमरस] निकालते हुए (चित्) और (पचते) [पुरोडाश] पकाते हुएके प्रति (वाजं) बल और अन्नको (आदर्दर्षि) सब ओरसे लाते हो (सः) वह [तुम] (किल) सचमुच (दुध्रः) दोहे जा सकने वाले [= फलप्रद] (सत्यः) सच्चे (असि) हो । हे (इन्द्र) (वयं) हम (विश्वह) सदा (ते) तेरे (प्रियासः) प्यारे (सुवीरासः) सुवीर सन्तानसे युक्त होते हुए (विदथं) समाजको [तेरा] (आ-वदेम) परिचय देते रहें ॥१२२॥

प्यारो, उसकी अखण्ड, सत्य मर्यादाके अधीन चलने वालोंके घरमें किसी बल और किसी धनकी कमी नहीं रहती । वह भगवान सदा तृप्त करने वाली कामधेनु है । हां, उसे दोहनेकी शक्ति चाहिये । सो, प्यारो, इस प्रकार वेद भगवान् उस अखण्ड एक ज्योतिमय भगवान्‌की सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता और अखण्ड मर्यादाका वर्णन अनेक स्थलोंपर करता है । पूर्व कही प्रक्रिया एक कुंजी है जिसे लगाकर वेदसे अनेक नामोंमें वर्त्तमान अनामकी और अनेक रूपोंमें वर्त्तमान अरूपकी महिमा समझी जासकती है । इस प्रकारकी प्रक्रियाके अभावसे ही लोगोंने वेदमें नाना देव-वाद तथा अन्य कितनेही अप-सिद्धान्तोंकी कल्पना की है । आज पर्याप्त चिर हो चुका है । कल एक छोटेसे प्रकरणमें अवशिष्ट वर्णनको करके इस सिलसिलेका उपसंहार करेंगे ।

दशम खण्ड ।

प्रेम-सम्बन्धकी अतिभूमि ।
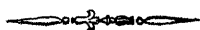
वस्तु०—महाराज, यह तो आपने बड़ी पूर्णतासे समझा दिया है कि वेदमें एक, अखण्ड, अनुपम, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और सत्यस्वरूप जगदीश्वरका वर्णन किया गया है। अब कृपया कोई उपाय बतावें जिससे कि हम उसके समीपवर्ती होकर उसके आनन्दके भागी होसकें।

महा०—बेटा, जब वह सर्वव्यापक है, तो फिर समीपतामें क्या कसर रही। जो कुच्छ इस ब्रह्माण्डमें वर्त्तमान होरहा है, उस सबका आदि मूलकारण उसे ही समझो। ऐसा करनेसे हृदयमें अपने आप सद्भावकी जागृति होती रहेगी।

वस्तु०—महाराज, मेरा भाव कुच्छ और था। मैं उसे स्पष्ट नहीं कर सका।

महा०—हां, तो अब कहिये। संकोच छोड़कर दिलकी बात करें।

वस्तु०—महाराज, अब तक जो ईश्वरीय स्वरूप आपने हमारे सामने रखा है, वह उग्र और तेजस्वी है। इन्द्र बड़ा बलवान् है, इसमें कोई संदेह नहीं। पर मेरे हृदयकी उधर प्रवृत्ति तब होगी जब उसकी स्नेह-वृत्तिका मेरे साथ सम्बन्ध जुड़ेगा। प्रबल शासककी हम प्रतिष्ठा तो भले करें, पर हम उसके साथ प्रेमका व्यवहार करनेका

साहस नहीं कर सकते। बुद्धिकी आस्तिकताकेलिये शायद यह समझ लेना पर्याप्त होगा कि ईश्वर सब प्राणियोंका भाग्यविधाता है और सकल संसारके ऊपर उसका अकण्टक साम्राज्य है। पर हृदयकी आस्तिकता तब पैदा होसकती है जब मेरे अन्दर यह विश्वास पैदा हो कि ईश्वर चाहे शासनकर्ताके रूपमें कितना ही उग्र क्यों न हो, वह मेरा अपना है। अपनेपनके भावके पैदा होनेसे ही हृदय-ज्योति जगती है और हृदयका मधुर रस टपकता है।

महा०—बहुत ठीक। मैं आपके भावको भांप गया हूं। आपके कथनमें सचाई है। मनुष्यका हृदय इसी प्रकारकी समीपताके आधारपर जागृत होता है। आप यदि भिन्न २ सम्प्रदायोंके इस विषयमें विचारोंपर ध्यान दें, तो इस स्वाभाविक लालसाका पूरा २ समाचार जान पड़ेगा। भारतवर्षमें सैंकड़ों बरसोंसे कृष्ण और गोपियोंके प्रेम-गीत गा २ कर भगवद्भक्त अपने हृदयकी प्रेम-पिपासाको शान्त करते रहे हैं। प्रेम-रस पैदा करनेकेलिये कृष्णकी बांसुरी वह काम कर जाती है जो सुदर्शन चक्रके विचारमें भी नहीं आ सकता। उग्रता भय पैदा करती है। आत्मीयता और स्नेह पूर्णता प्रेमकी गंगा बहाती है। भक्तकी मस्तीका आधार यही है। इस प्रेमकेलिये मीरांबाई लोकलाजको परे हटा कर द्वार २ पर भगवत्के गुण गा सकती है। जिस हृदयमें इस प्रेमका सूक्ष्म विश्वास पैदा होजाता है, वहां बलवती तड़प पैदा होती है जो राज्य छुड़ा सकती है, भीख मंगवा सकती है, कान फड़वा सकती है, वस्त्र उतरवा कर अवधूत बना सकती है, भूख और प्यास भुला

सकती है, सरदी और गरमीके प्रति बेखबर बना सकती है और इससे अधिक क्या होसकता है, जीवन तकसे बेपरवाह कर देती है। प्यारो, भक्ति-प्रेमके मुकाबिलेकी कोई दूसरी शक्ति मुझे मालूम नहीं, यही कारण प्रतीत होता है कि समय २ पर भक्ति और प्रेमका मार्ग अन्य सब मार्गों को भुला देता है। न महात्मा बुद्ध और उसके अनुयायियोंका दुःखवाद और न शङ्कर स्वामीका मायावाद इसके सामने ठहर सका। अब भी विज्ञानके सर्वतोमुख विकासके युगमें मानव-हृदयकी तृप्ति यदि होती दिखाई देती है, तो भक्तिरससे ही होती है। जिस दर्शनमें, विचारमें और सम्प्रदायमें भक्ति-रस नहीं बहता, वह कुच्छ कालकेलिये मस्तकग्राह्य भले होसके, वह हृदय-ग्राह्य कभी नहीं होता। तप और त्यागके अन्दर धर्मका सार है। और उनका सरोवर हृदयका बल है। मस्तकके अधीन हो, तो कोई मनुष्य कभी एक तिनका भी उठाकर दूसरेकी सहायता न करे, जान जोखोंमें डालकर परोपकार करनेका तो कहना ही क्या?

सदा०—भगवन्, दूसरे मतोंने भी इस बातको ग्रहण किया है। मुहम्मद साहिब न केवल खुदाके रसूल ही कहे जाते हैं, वरन् प्रेमी भी कहे जाते हैं, ईसाई लोगोंके मुखसे कितने वार यह बात सुनी है कि हमारा मत सर्वोत्तम है क्योंकि प्रभुको पिता कहकर उससे निर्भय होना इसीने संसारको सिखाया है।

सत्य०—महाराज, जैसे वेद भगवान्से आपने एकता आदिके विषयमें हमें कृतार्थ किया है, इस विषयमें भी तो कुच्छ संदेश सुनावेंगे न? वेदमें अवश्य यह प्रसङ्ग भी आया होगा। सच्चा भक्त ही प्रभुकी सच्ची महिमाको ठीक २ गा सकता है। पर वह

भक्ति प्रेमकी भित्तिपर ही खड़ी होसकती है। यह हो नहीं सकता कि वेदमें प्रेम-मार्गका द्वार बन्द रहा हो।

महा०—नहीं, प्यारे, बन्द क्यों होगा? वेदने शायद ही कोई प्रेम-संबंध होगा, जो भजनीय भगवान्से न जोड़ा हो। लीजिये मैं थोड़ेसे समयमें आपकी इस आशाको पूरा किये देता हूं। सुनिये, आरम्भमें ही वेदका भक्त ईश्वरकी शरणमें जानेकेलिये ऐसे लालायित होरहा है जैसे पुत्र पिताकी गोदीमें।

(१) स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥१२३॥ ऋ० १।१।९॥

अर्थ:—(इव) जैसे (पिता) (सूनवे) पुत्रकेलिये (सु-उपायनः) सुगमतासे पहुंचे जानेवाला [होता है, वैसे ही] (नः) हमारे प्रति (सः) वह [प्रसिद्ध गुणोंसे युक्त तुम] हे (अग्ने) (भव) होवो; (नः) हमें (सचस्व) पकड़ो ताकि हमारा [सु-अस्तये) जीवन कल्याणमय होसके ॥१२३॥

वस्तु०—महाराज, यहां 'अग्नि' का किस कोटिमें ग्रहण करना होगा?

महा०—बस, कलकी बताई हुई रीतिसे अखण्ड आध्यात्मिक कोटिमें। यह आधिभौतिक आधारसे ऊपर उठे हुये भक्तके हृदय-तरंगकी सूचना है। अग्निका आधिभौतिक आधार तेज और उग्रताका प्रकाशक है। पर एक कोटिसे दूसरी कोटिमें जाते हुए, भक्ति-रसके द्वारा वही स्वरूप विलक्षण मिठासको धारण कर लेता है। सुनिये, अगले मन्त्रमें अग्निका न केवल चमकीली वरन् रसीली दृष्टिका संकेत करके भक्तोंको निर्भय प्रेमकेलिये प्रेरित किया

गया है। इस रसको अनुभव करता हुआ भक्त कहता है।

(२) अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य संदृग्देवस्य चित्रतमा मर्त्येषु। शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः ॥१२४॥ ऋ० ४।१।६॥

अर्थः—(अस्य) इस (सु-भगस्य) महान् ऐश्वर्य युक्त (देवस्य) प्रभुकी (मर्त्येषु) मनुष्योंपर (श्रेष्ठा) श्रेष्ठ [और] (चित्रतमा) अत्यन्त सुन्दर (सं-दृग्) सांझी दृष्टि [पड़ रही है]। (इव) जैसे (अघ्न्यायाः) न मारने योग्य (धेनोः) दूध देने वाली [गौ] का (तप्तं) गरम किया हुआ (घृतं) घी (शुचि) पवित्र [प्रीति योग्य और सत्कार योग्य होता है, वैसे ही] (देवस्य) प्रभुकी [वह प्रसादमयी दृष्टि] (स्पार्हा) प्रेमके योग्य (मंहना) पूजाके योग्य [और पवित्र है] ॥१२४॥

कितना सरल और साधारण दृष्टान्त है, पर कितनी इसकी महिमा है! नव-प्रसूता गौके तपाये हुए घीके स्निग्धता, सुन्दरता, मृदुता, सुवर्णता आदि गुणोंको हृदयके सामने लाकर भक्त प्रभुकी दया-दृष्टिमें ये सब गुण देखता हुआ प्रेमरसमें निमग्न होजाता है। और, वह भगवद् दृष्टि केवल एक व्यक्ति या विशेष जातिका दायभाग नहीं है। वह सबपर समानतासे पड़ती हुई सबको निहाल कर रही है।

सदा०—महाराज, कोई ऐसा मन्त्र सुनावें, जिसमें उपमाका आश्रय लिये विना ही वेदने प्रभुको पिता कहा हो।

महा०—बहुत ठीक। सुनिये और वेदके भावके महत्त्वका

स्वयं अनुमान करें। केवल पिताका भाव ही नहीं, और भी बहुत कुच्छ ग्रहण करने योग्य संबन्धोंको विना उपमा आदिका आश्रय लिये, सीधा, स्पष्ट प्रकट किया गया है।

(३) अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित् सखायम्। अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य ॥१२५॥ ऋ० १०।७।३॥

अर्थः—[मैं] (अग्निं) अग्नि महा-प्रभुको (पितरं) पिता (अग्निं) अग्निको (आपिं) नाती (अग्निं) को (भ्रातरं) भाई [और] (सदं-इत्) सदा ही [साथ देने वाला] (सखायं) मित्र (मन्ये) समझता हूं; (दिवि) आकाशमें (सूर्यस्य) सूरजके (शुक्रं) प्रदीप्त (यजतं) पवित्र (अनीकं) मुखको (अग्नेः) अग्नि (बृहतः) महाप्रभुका [समझ कर ही] (सपर्यं) पूजता हूं ॥१२५॥

अब कहिये, वेदने कौनसा इष्ट सम्बन्ध है जिसका यहां संकेत न किया हो। यह दुःखकी बात है कि हम अपने जातीय साहित्य तथा धर्मग्रंथोंके गौरवसे स्वयं अपरिचित होनेके कारण न दूसरोंके हृदयमें उनकी प्रतिष्ठा पैदा करसकते हैं और न उनकी मिथ्या बातोंका ठीक २ समाधान करसकते हैं। यह आप लोगोंका प्रेम है जिससे यहां कुच्छ चर्चा चलती है। नहीं तो, आज लोगोंकी इधर रुचि ही कहां है ?

सदा०—महाराज, मन्त्रके दूसरे भागको अपनी प्रक्रियाके अनुसार तनिक कह दीजिये।

महा०—हां, मेरा ध्यान इधरसे कुच्छ हट गया था। यह पूर्व कहे गये कोटि-परिणामका अच्छा उदाहरण है। वैदिक विद्वान्

जानते हैं कि सखण्ड या विभक्त आधिदैविक कोटिमें अग्नि और सूर्य अलग २ होते हैं। कोई भक्त यह नहीं कह सकता कि मैं सूर्यके स्वरूपमें अग्निके स्वरूपकी पूजा करता हूं। हां, यह संभव हो सकता है जब बीच वाली शृङ्खलाको पूरा कर दिया जावे। वैदिक भक्त अग्निके आधिभौतिक आधारसे ऊपर चढ़कर आधिदैविक कोटिमें पहुंच कर उस देवकी सर्वत्र व्यापक महिमा और प्रकाशको अनुभव करता है। सूर्यको आधार बनाकर भी वह उसी कक्षामें जा पहुंचता है। झट सखण्डसे अखण्ड और विभक्त से अविभक्त कोटिमें प्रवेश होता है और जो देव अग्निमें है, वही जलमें, सूर्यमें, बिजुलीमें और पर्जन्यमें दिखाई देने लगता है। देव एक होजाता है। शेष उसकी महिमाएं बन जाती हैं। वह अरूप है, शेष उसके संकेतक रूप होजाते हैं। वह अनाम है, शेष उसके संकेतक नाम होजाते हैं। उसका वर्णन 'वह' से अधिक शब्दों द्वारा नहीं होसकता। इसलिये उस कोटिके सूचक मन्त्रोंमें 'वह', 'एक' आदि शब्दोंका ही प्रयोग मिलता है। वर्णन तब तक जाता है जब तक सखण्ड कोटिका राज्य है। अस्तु, इसी भावको यहाँ भक्त सूचित करता हुआ कहता है कि मैं अपने प्यारे, प्रियतम अग्निके ही रूपको सूर्यके प्रकाशमें देखता हूँ। मेरेलिये आकाशमें वही एक दूसरे स्वांगको भरकर प्रकट होजाता है। मैं उसे पहचानता हूँ और उस रूपमें भी उसीकी पूजा करता हूँ। मेरी अग्नि-पूजा और सूर्य-पूजा वस्तुतः उन दोनोंमें वर्त्तमान अखण्ड एक तत्त्वकी पूजा है। अब कुच्छ मंत्रोंमें इन नाम द्वारा प्रभुके प्रति इन्हीं भावोंका प्रकाश दिखाई देता है।

(४) सतः सतः प्रतिमानं पुरोभूर्विश्वा वेद जनिमा हन्ति शुष्णम्। प्र णो दिवः पदवीर्गव्युरर्चन्त्सखा सखींरमुञ्चन्निरवद्यात् ॥१२६॥ ऋ० ३।३१।८॥

अर्थः—[इन्द्र] (सतः सतः) प्रत्येक शुभ [पदार्थ, गुण, कर्म तथा स्वभाव] का आदर्श [तथा] (पुरः-भूः) आगे होनेवाला [नायक है, वह] (विश्वा) सब (जनिमा) उत्पन्न हुए २ [पदार्थों] को (वेद) जानता है, [तथा] (शुष्णं) सुखानेवाले [दस्यु] को (हन्ति) मार डालता है। [उस हमारे] (गव्युः) गौओंकी तलाश करनेवाले [=आदर्श पुरुषार्थ शील] (सखा) मित्रने (दिवः) प्रकाशमान (पदवीः) पदवियों [=प्राप्त करने योग्य जीवन-कक्षाओं] की (अर्चन्) स्तुति करते हुए [=हमारी उधर प्रवृत्ति कराते हुए] (नः) हम [अपने] (सखीन्) मित्रोंको (अवद्यात्) निन्दनीय [जीवन-नीति] से (प्र) अच्छे प्रकार (निर-अमुञ्चत्) मुक्त करके [स्वतन्त्र कर दिया है] ॥१२६॥

प्यारो, प्रभु हमारा मित्र है। वह हमारे सामने शुभ मार्गपर निरन्तर चलता हुआ शुभ आदर्शको दिखाता है। उसके व्रत और नियम अखण्ड हैं। उसका पुरुषार्थ अनाहत है। उसका ज्ञान असीम है। उसका उपकार अपार है। वह हमारे हृदयमें बैठा हुआ सन्मार्गकी ओर हमारे उत्साहको बढ़ाता है और कुमार्गसे भय पैदा करता है। यह उसकी अपार दयाका ही परिणाम होता है जो उसके भक्तजन पाप-पंकसे बाहर निकल आते हैं। यहांपर इन्द्रके विरोधी शुष्ण-दस्युका संकेत किया है। यह वह शक्ति है जो जलको, मानो, सुखा ही देती है। इन्द्र पुनः 'सूखे हुए' जलोंमें रस

भर देता है। आध्यात्मिक कोटिमें 'शुष्ण' भयानक पापकी आगको कहेंगे जो सत्यवृत्तिके प्रवाहको सुखा डालती है। भगवान्की कृपासे पुनः उसमें रस पैदा होता है।

(५) रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रो न पितरं हुवे ॥१२७॥ ऋ० ७।३२।३॥

अर्थः—(न) जैसे [शुभ सम्पत्तिकी प्राप्तिकेलिये] (पुत्रः) पुत्र [अपने] (पितरं) पिता [को आराधता है, वैसे ही मैं] (रायः-कामः) ऐश्वर्यको चाहता हुआ (वज्र-हस्तं) वज्रयुक्त हाथवाले (सु-दक्षिणं) अच्छी दक्षिणा [=पुरस्कार, पारितोषिक देने] वाले [इन्द्र-पिता] को (हुवे) आराधता हूं ॥१२७॥

(६) शिक्षेयमिन्महयते दिवे दिवे राय आ कुहचिद्विदे न हि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥१२८॥ ०—१९॥

अर्थः—[मैं] (दिवे दिवे) प्रतिदिन (कुह चित्) कहीं भी [= सर्वत्र] (रायः) ऐश्वर्य (विदे) प्राप्त कराने वाले (महयते) उन्नत करने वाले [तुझ प्रभु] की (इत्) अवश्य (शिक्षेयम्) प्रार्थना करता रहूंगा (हि) क्योंकि हे (मघवन्) ऐश्वर्य-पते [इन्द्र] (त्वत्) तुझसे (अन्यत) दूसरा [कोई और] (वस्यः) अधिक धनाढ्य (आप्यं) सम्बन्ध [नाता] (न) नहीं (अस्ति) है (चन) चाहे [वह अपना] (पिता) [भी क्यों न हो] ॥१२८॥

कितना प्रभु-विश्वासका प्रकाश किया गया है। प्रभु सर्वत्र आजीविका और ऐश्वर्यको पहुंचाने वाला, सर्व-श्रेष्ठ संबन्धी है।

न पिता, न माता, न कोई और बन्धु उसकी तरह हमें आगे ले जासकता है ।

(७) त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अधा ते सुम्नमीमहे ॥१२९॥ ऋ० ८।९८।११॥

अर्थः—हे (वसो) बसाने वाले [=धनादि देने वाले इन्द्र] (त्वं) तुम (हि) ही (नः) हमारे पिता [और] हे (शतक्रतो) सौ [=अनन्त] प्रज्ञा और कर्मों वाले (त्वं) तुम [ही] (माता) (बभूविथ) हो; (अध) अब [तो] (ते) तेरे (सुम्नं) प्रसादको [ही] (ईमहे) चाहते हैं [कृपाकर और द्वार खोल दे] ॥१२९॥

प्यारो, देखिये वेद प्रभुको माता भी कह रहा है । शायद ऐसा किसी दूसरे मतवालेने आपको सुनाया हो । वास्तवमें ये सब सम्बन्ध कल्पित हैं । अनाम, अरूप, असंग प्रभुका किसीसे क्या संबन्ध ? प्रत्येक संबन्ध किसी बन्धन और सीमाको लेकर घटता है । प्रभु सब बन्धनों और सीमाओंसे अतीत है। हां, यह सब भक्तके अपने मनकी मौज है । वह जिस प्रकार भी अपनी विश्वास-भित्तिको दृढ़ कर सकता है, उसी प्रकारके वर्णनसे अपने हृदयको प्रभु-चरणोंमें चढ़ाता है । भक्तके प्रेमकी भी कोई सीमा नहीं । पूर्व कहे सम्बन्धोंके अतिरिक्त वेदने पतिपत्नी सम्बन्धका भी इशारा किया है । भक्तिका काव्य भी निराला है । अगले मन्त्रमें, देखिये, जगज्जननी सर्वमाताको तो बच्चेके रूपमें और अपने स्तोत्रोंको माताके रूपमें वर्णन कर दिखाया है । सुनिये,

(८) मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम् । इन्द्रं वत्सं न मातरः ॥१३०॥ ऋ० ३।४१।५॥

अर्थः—[मेरी] (मतयः) आराधनाएं (सोम-पां) सोम पीने वाले (उरुं) विशाल (शवसः-पतिं) बलके पति (इन्द्रं) इन्द्रको [ऐसे ही] (रिहन्ति) चाटती हैं (न) जैसे (मातरः) माताएं (वत्सं) बछड़ेको [चाटती हैं] ॥२३०॥

गोमाताका नवजात बछड़ेके साथ जो प्रेम है वह आदर्श प्रेम है। एक क्षण भी वह उसका विश्वास नहीं करती। अपने नेत्रोंके सामने रखकर प्रेम-परवश होकर चाटती रहती है। इसी प्रकार वेद शिक्षा देता है कि सच्चे भक्त प्रभुसे एक क्षणकेलिये भी अलग होना दूभर समझते हैं। उनका जीवन उसीसे है। उनका मान उसीसे है। अतः उनका ध्यान उसीमें रहता है। अपने मानसिक नेत्रोंसे उसी पुष्पके भ्रमर बने रहते हैं। उसी चन्द्रके चकोर और उसी आनन्दघनके मोर बने रहते हैं। चित्त-वेदिकापर उसीका प्रदीप जगाकर उसीके पतंग बनकर जीवन ज्योतिका पान करते हैं।

प्यारो, प्रभुके स्वरूपका क्या २ प्रदर्शन करावें! उसका कोई अन्त नहीं। वह गुणागार और सद्भावोंका अपार सागर है। वेद भगवान्‌की अपनी प्रवृत्ति भी अधिक व्याख्याओं और उपदेशोंमें नहीं है। वहां तो भक्तिसे आप्लावित हुआ २ सच्चा मानव हृदय प्रभुके चरणोंमें बहा जाता है। हमें भी अब यत्न करना चाहिये कि सच्चे विश्वासको पैदा करके, सद्भावसे युक्त होकर भक्ति-रसको पान करनेकी ओर प्रवृत्त हों। इस वार मुझे प्रचलित वाद, विवादकी दृष्टिमें रखते हुए अधिक रूपसे वैदिक प्रक्रियाकी व्याख्या करनी

पड़ी है । पर मेरा विश्वास है मेरा प्रयत्न सफल हुआ होगा । आपके हृदयोंमें वैदिक पूज्य देवताका स्वरूप भली भान्ति प्रकाशित हो गया होगा । सुनी सुनायी बातों और नाना प्रकारके सन्देहोंका समाधान हो चुका होगा ।

सदा०—क्या, महाराज, अब यह सिलसिला बन्द होजावेगा।

महा०—हां, कुच्छ कालकेलिये बन्द ही समझिये। ये सत्संगी जानते हैं कि इस अवसरपर कुच्छ कालकेलिये मैं कहीं न कहीं पर्वत-प्रदेशमें निकल जाता हूं ।

सत्य०—महाराज, इस वर्ष किधर जानेका विचार है ?

महा०—सुनते हैं, जम्मूसे काश्मीरको जाते हुए बटोतसे कोई आठ मील ऊपर जंगलमें एक सनासर नामका सुन्दर, विजन प्रदेश पड़ता है । बड़ा रमणीक और मनोहर स्थान बताते हैं । वहीं जाकर कुच्छ कालकेलिये ठहरनेका विचार है ।

वस्तु०—तब तो समीप ही है । क्या मैं भी आपकी सेवामें वहां रह सकता हूं ।

माया०—विचार तो मैंने भी आरंभ वर्षसे ही ऐसा कर रखा है । आगे समय आनेपर कोई न कोई घरेलू कार्य आ घेरता था । अबके मैंने पहिलेसे ही प्रबन्ध कर रखा है । बस, आपकी आज्ञाकी ही देर है ।

महा०—हां, मुझे कोई संकोच नहीं । आप दोनों सत्यकामके साथ बड़े शौक़ सेचलियेगा । बस इतना ध्यान रखना कि दूरवर्ती

पर्वतीय स्थानोंपर एकान्त-रसके रसियेका चित्त तो बल्लियों उछलता है, पर साधारण रौनक चाहने वाला शीघ्र ही तंग आ जाता है।

सदा०—चलता तो मैं भी, पर मैं पुनः एक विशेष कार्यकेलिये अमेरिका (पाताल) देशको जारहा हूं।

उप०—पाताल जारहे हैं!

सदा—जी हां। कोई छः मास पर्यन्त उधर ही रहूंगा।

महा०—बड़ी प्रसन्नताकी बात है।

सदा०—भगवन् कोई आदेश करें।

महा०-बस, आनन्दित रहो। सबसे बड़ी सेवा यही होगी कि उन लोगोंके हृदयोंमें अपने आचार, व्यवहार तथा ज्ञानसे अपने देशके साथ प्रेम पैदा करो। उनके चित्तपर प्राचीन भारतके संस्कृत समाजका गौरव बिठाओ। वेदके पवित्र धर्ममें रुचि पैदा करो।

सदा०—महाराज, क्या अच्छा होता यदि आप उस देशकी यात्राकेलिये समय निकालते। वे लोग स्वतन्त्र स्वभावके धनी और गुणग्राही हैं। आप ऐसे महानुभावोंका यत्न वहांकी उपजाऊ भूमिमें अवश्य सफल होगा।

महा०—जो भगवान्को पसन्द होगा, वही होगा । आपने इन बातोंको स्मरण रखना ।

सदा०—अवश्य, महाराज, (सब उठकर प्रणाम करते हुए विदा हुए)

इति

तुरीये वेदसंदेशेऽध्यायेऽपि प्रभुगायने ।
द्वितीयोऽगादथोच्छ्वासस्तत्स्वरूपनिरूपणे ॥१॥
सामान्यतत्त्वचर्चायां देहोपवर्णने तथा ।
प्रततः प्रथमो भागो मानसोऽभूदथापरः ॥२॥
ततो भागस्तृतीयोऽसौ प्रभुप्रसादयोजकः ।
तज्जिज्ञासां प्रकुर्वाणोऽजनि जगति विश्रुतः ॥३॥
भागश्चापि चतुर्थोऽयं प्रभुप्रीतिकरः शुभः ।
काखण्डप्रदेशेन सम्पूर्णः शन्तनोतु वः ॥४॥

अशुद्ध-शुद्धि पत्र।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	१५	सबका	सबको
३४	१	भगवान्का	भगवान्को
३४	१६	ताड़	तोड़
३४	२१	हाकर	होकर
३७	१८	धनोंका	धनोंका
४९	२०	विषयस्स्पष्ट	विषय स्पष्ट
५१	११	ज्योतरधीश	ज्योतिरधीश
५१	१८	धृतव्रीत:	धृतव्रत:
५४	१४	जा	जो
५९	१२	मर्मवेधिनी	मर्मवेदिनी
६७	२१	काटि	कोटि
७२	२०	प्रकिया	प्रक्रिया
७४	२	ऋृषि	ऋषि
७४	२०	(वि-अख्यत)	(वि-अख्यत्)
७५	८	ता	तो
७६	२२	क्रियाआ	क्रियाओं
७७	२०	समझा	समझो
८०	१	रामिभि:	रश्मिभि:
८०	२	[करणों	[किरणों
८०	१२	विर्धता	विधर्ता
१२०	१६	अर्थात	अर्थात्
१४४	३	महहद्	मह हद्
१४५	८	उपभागकेलिये	उपभोगकेलिये

वैदिक आश्रम ग्रन्थमालाके नियम

(१) उद्देश्यः—(क) आर्यधर्मके सन्देशको सुन्दर, सरल, स्थायी तथा सस्ते से सस्ते साहित्य द्वारा सर्व साधारण तक पहुंचाना।

(२) वेदादि सच्छास्त्रोंके पूर्ण अनुवादों तथा नाना प्रकारके संग्रहोंका भिन्न भाषाओंमें प्रकाशित करना।

(३) नियमः—(१) जो सज्जन १०१) रु०, २५०) रु० या ५००) रु० देंगे, उन्हें क्रमसे स्थिर सभ्य, प्रतिष्ठित सभ्य, और संरक्षक समझा जावेगा।

(२) यदि कोई सभ्य या संरक्षक एक वार सारा शुल्क न देसके, तो खण्ड २ करके दे सकेगा।

(३) प्रत्येक सभ्य और संरक्षकके पास ग्रन्थमालाकी प्रकशित प्रत्येक पुस्तककी एक २ प्रति भेण्टके रूपमें पहुँचती रहेगी।

(४) प्रत्येक सभ्य तथा संरक्षकके पास कार्य विवरण भेजा जाया करेगा और ग्रन्थमालाकी उन्नतिकेलिये वे जो प्रस्ताव भेजेंगे; उनपर पूरा ध्यान दिया जावेगा।

(५) स्थिरग्राहकका प्रवेश-शुल्क केवल ॥) होगा।

(६) प्रत्येक स्थिर ग्राहकको तीन चौथाई मूल्यपर पुस्तक दी जावेगी और नई पुस्तकोंके छपनेकी सूचना दी जावेगी।

(७) पत्र भेजनेके १५ दिनके अन्दर यदि इनकार न किया जावेगा, तो पुस्तकें वी० पी० पी० द्वारा भेजदी जावेंगी।

पता—मैनेजर वैदिकाश्रम ग्रन्थमाला लाहौर।